सिद्धयोग

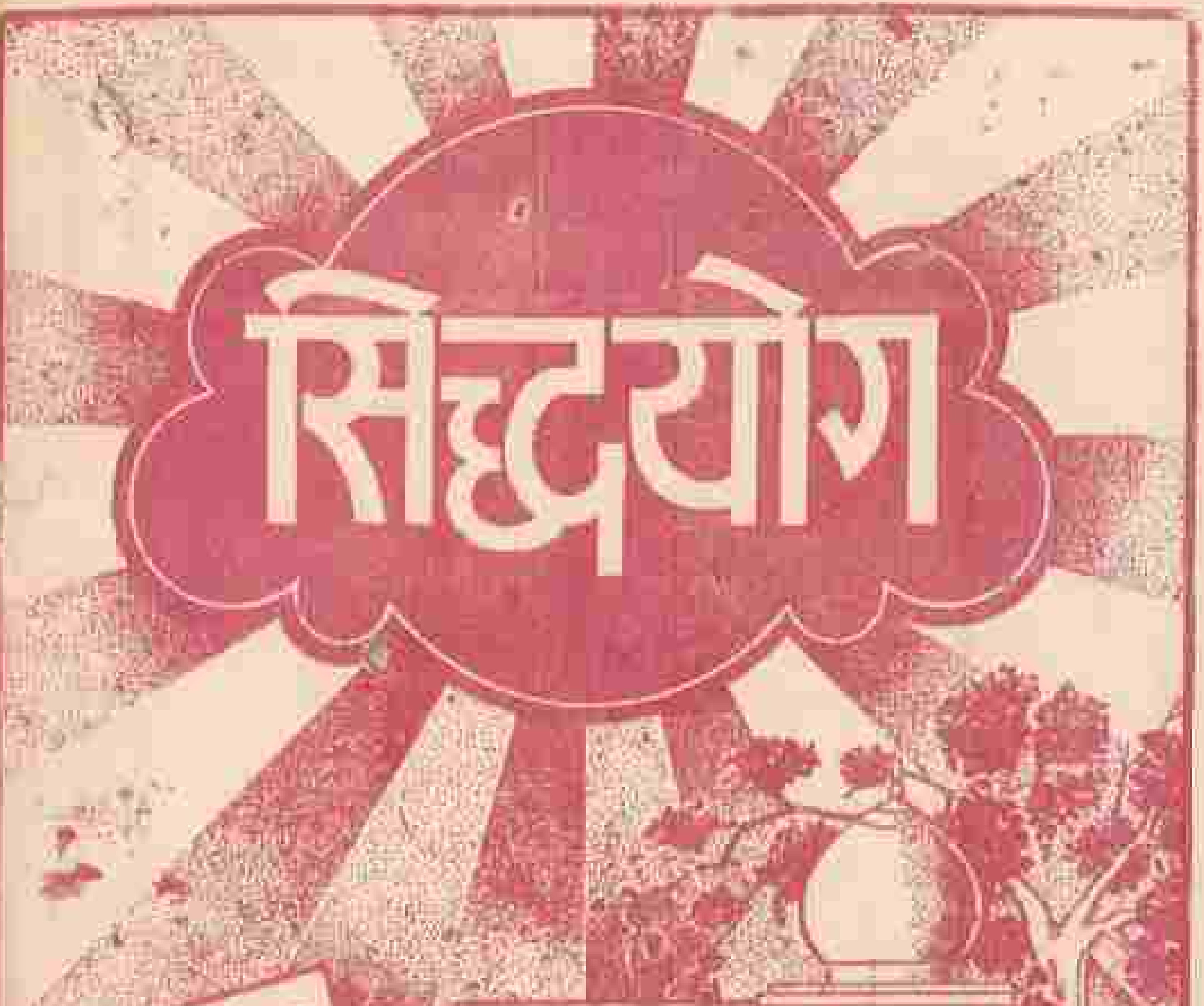

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सवाई, आगरा

वर्ष १९   सितम्बर १९८६-ई   अंक ६

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

- अस्तुवे भागमस्त्वाः (प्रार्थना) १
- भगवान् श्रीकृष्ण और उनका योग-ऐश्वर्य (विशेष लेख) २
  योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
- गुरूपदेश (कविता) ११
  श्री वियोगी हरि
- राम भक्ति परक साहित्य का
  हनुमत् भक्ति परक साहित्य पर प्रभाव १३
  श्री डा० केशवराम शर्मा (साहित्याचार्य)
- पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम् (स्वागमन नीति से) २६
- योगाभसार (कविता) २८
  श्री नन्दकिशोर
- गुरु तत्त्व २९
  श्री रामकिशन
- जप-योग का विज्ञान ३४
  ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश
- योग-दर्शन में अविद्या का स्वरूप ३९
  ब्रह्मचारी श्री बाबूलाल
- मानसिक तनाव से मुक्ति ४२
  श्री शिवानन्द
- विचारों की शुद्धि ४५
  श्री विष्णुप्रसाद व्यास
- गुरु-अभ्यर्थना (कविता) ४८
  श्री दिनेश नारायण त्रिपाठी

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'
सितम्बर

वार्षिक मूल्य ३० रुपया। इस अङ्क का ४ रुपया

ॐ

● श्री रामलाल प्रभवे नमः ●

फीरोजाबाद (आगरा) में—

श्रीसद्‌गुरुदेवजी का जन्म-दिवस समारोह

१२ अक्टूबर रविवार १९८६ ई० को

एवं

योग-प्रचार कार्यक्रम

१० अक्टूबर से १६ अक्टूबर १९८६ तक

सभी गुरु-भाई बहिनों को हमें यह सूचित करते हुये परम हर्ष एवं प्रसन्नता हो रही है कि हमारे परम-पूज्य सद्‌गुरुदेव भगवान् योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज का जन्म-दिवस समारोह बड़े हर्षोल्लास के साथ विजयदशमी १२ अक्टूबर रविवार ८६ई० को फीरोजाबाद नगरमें मनाने का निश्चय किया गया है। पूज्य श्री गुरुदेवजी ने इसके लिये अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी है और इसी उपलक्ष में १० अक्टूबर ८६ से १६ अक्टूबर ८६ तक महत्वपूर्ण योग-प्रचार कार्यक्रम का आयोजन भी रहेगा। सभी योग-प्रेमी भाई-बहिनों से प्रार्थना है कि वे इस महत्वपूर्ण कार्यक्रम में भाग लेकर हमें आभारी करें तथा श्री गुरुदेवजी के महत्वपूर्ण प्रवचनों और उनके दर्शनों का लाभ लें।

कार्यक्रम का स्थान:	पत्राचार का पता:	दर्शनाभिलाषी:
मन्नूमल विद्या-मंदिर	द्वारा श्याम सुन्दर मित्तल	श्यामसुन्दर मित्तल
एम. जी. मार्ग, निकट गुरुद्वारा	फर्म कन्हैया राधाकृष्ण,	गल्ले वाले
फीरोजाबाद	२७ पसारियान रोड, फीरोजाबाद	

रुद्र महायज्ञ का आयोजन

सदा की भाँति इस वर्ष भी आश्रम पर वैदिक रुद्र महायज्ञ का पावन आयोजन लगभग एक महीने तक चलता रहा। यह यज्ञ २३ जौलाई से प्रारम्भ होकर २४ अगस्त को पूर्णाहुति के साथ समाप्त हुआ। यज्ञ के आचार्य उत्तर भारतीय वेद के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य प्रवर श्री महादेव शर्मा रहे। इनके सहयोग के लिये भी लगभग आठ वेदज्ञ ब्रह्मचारी अपना सहयोग प्रदान करते रहे। यज्ञ के अनुष्ठान में भाग लेने के लिये आश्रमसे सम्बन्धित अन्य अनेक गुरु-भाई भी अपनी साधना को सफल बनाने के लिये बाहर से आकर सम्मिलित हुये थे। सायं वेला में संगीत एवं कथा प्रसंग के कार्यक्रम भी आचार्य महोदय द्वारा चलाये जाते रहे।

आश्रम का इन दिनों का वातावरण देखकर ऐसा लगता रहा मानो हम प्राचीन काल के किन्हीं ऋषि-मुनियों के ऐसे आश्रम में खड़े हुये है। दर्शक और श्रोता दोनों के मन सात्विकता के भावों से अनायास ही भर से जाते थे। यज्ञ अनुष्ठान का एक वार्षिक यह कार्यक्रम भी आश्रम की गति-विधियों का एक अंग बन चुका है।

इस बीच में श्री गुरुदेवजी के एकान्तवास का कार्यक्रम भी साथ-साथ चलता रहा था। श्री गुरुदेवजी आजकल आश्रम पर ही विराजमान है और सितम्बर मास के अन्त तक वे आश्रम पर ही निवास करेंगे। अतः इस अवधि का पत्र व्यवहार आश्रम के पते पर ही होना चाहिये।

—व्यवस्थापक

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा ।

वर्ष १९ — अङ्क ९ — सितम्बर १९८६

अपूर्वं ध्यानं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मुमुक्षुश्च विकरोति, मुक्ति प्राप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थम् महाकार्यं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महता सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥

अश्नुवे भागमस्याः

न विजानामि यदि वेदमस्मि
निण्यः सनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्याद्
इद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

—ऋग्वेद १/६४/३७

अर्थात्

"मैं नहीं पहचानता हूँ, कौन सी वस्तु मैं हूँ। मैं एक रहस्य की वस्तु बना हुआ हूँ। अब मन के साथ पूरा तैयार होकर चल रहा हूँ। जब ऋत (सृष्टि विज्ञान) का बड़ा भाई (आत्म विज्ञान) मुझे प्राप्त होगा तभी मैं इस वाक् (वेद) का भाग पाऊँगा।"

जब तक मन मेरा साथी नहीं बनता तब तक अपने आपका पूर्ण ज्ञान नहीं होता।

हमारा विशेष लेख—

ॐ योग-योगेश्वर
अनन्त श्री जगन्मोहनजी
महाराज

卐

नित्य वंदनीय भगवान् श्रीकृष्ण इस धराधाम पर परात्पर सत्ता की लोक-रक्षण, लोक-पालन, और लोक रंजन की महाशक्तियों को लेकर परमपुरुष के रूप में अवतरित हुये थे। प्रति-वर्ष भाद्रपद कृष्णाष्टमी को हम उनका प्राकट्य दिवस उनकी जयन्ती के रूपमें मना कर कृतार्थ हुआ करते हैं। धर्मसंस्थापन और अधर्म के विनाश के लिए वे जिन ऊँचे आदर्शों की प्रतिष्ठा कर गये हैं, उनको तथा उनके अद्भुत योग-ऐश्वर्यों को पूज्य श्री गुरुदेवजी ने अपने इस लेख में उजागर करने का प्रयास किया है। हम उनके योग-ऐश्वर्य भरे चारु चरित्र से कुछ सीख सकें यही उनके इस सुन्दरतम् लेख का अभिप्राय है। तथा इस सत्य का सप्रमाण अनुमोदन भी उन्होंने किया है कि वे पूर्णावतार थे और परात्पर सत्ता की अतिशय सामर्थ्य अपने में संजोये हुये थे। —सं० स०

भगवान श्रीकृष्ण
और
उनका योग-ऐश्वर्य

परमात्मा अखिल लोक-पावन भगवान श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत् महापुराण तथा अन्यान्य पुराणों में जो कुछ वर्णन पढ़ने को मिलता है, उससे उनके परात्पर होने का स्पष्ट संकेत मिलता है।

श्रीमद्भागवत् का उपाख्यान है कि जब श्री ब्रह्मा जी गौ रूप धारिणी पृथ्वी को उसकी पीड़ा निवारणार्थ अन्य देवताओं के साथ शेषशायी भगवान नारायण की सेवा में क्षीर सागर पर गये, तब वहाँ पहुँचकर पुरुष सूक्त द्वारा उन्होंने भगवान नारायण की स्तुति करना आरम्भ किया। तन्मयता से स्तुति करते-करते वे समाविष्ट हो गये तथा समाधि अवस्था में ही उन्होंने भगवान नारायण का दिव्य सन्देश सुना। श्री ब्रह्मा जी ने समाधि अवस्था में सुने हुए भगवान के उस दिव्य सन्देश को जो अव्यक्त रूप में था यथा-वत् अपने साथ गये सभी देवताओं को सुना दिया। उन्होंने कहा:—

गिरं समाधौ गगने समीरितां
निशम्यवेधास्त्रिदशानु वाच ।
गां पौरुषीं मे शृणुतामरः पुन-
विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥
पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूप जन्यताम् ।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकाल सत्तया क्षपयंश्चरेद् भुवि ॥

वसुदेव गृहे साक्षाद्
भगवान् पुरुषः परः ।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं
सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥
—भागवत पुराण द्वितीय खण्ड

अर्थात्—'हे देवगण ! आप सब मेरी उस वाणी को सुनें जिसे मैंने समाधि अवस्था में सुना है। सुनकर तुम सब तदनुसार ही करो । इसमें कुछ भी विलम्ब नहीं होना चाहिए। भगवान्—नारायण को पृथिवी के कष्ट का पहले ही से पता है। वे ईश्वरों के भी ईश्वर हैं अतः अपनी काल शक्ति के द्वारा पृथिवी का कष्ट-हरण करने के लिए जब तक वे धरा-धाम पर लीला करें तब तक तुम सब भी शीघ्र अपने-अपने अंशों के साथ यदुकुल में जन्म लेकर उनके लीला-चरितों में अपना सहयोग प्रदान करो। जब मैं वसुदेव जी के घर में परात्पर भगवान प्रादुर्भूत होंगे। देव लोक की देवांगनायें भी वहीं जाकर जन्म लेवें।'

भागवत महापुराण का यह उपरोक्त उद्धरण हमारे इस कथन और मान्यता की पुष्टि करता है कि जगदात्मा भगवान श्रीकृष्ण परात्पर पावन पुरुष के रूप में—इस धरा-धाम पर प्रादुर्भूत हुये थे ।

माता देवकी ने भी उनके प्रकट होने पर जो स्तुति की थी वह भी हमारे इस कथन की पुष्टि करती है । यथा:—

यस्यांशांश भागेन विश्वोत्पत्ति-लयोदयाः भवन्ति किल विश्वात्मं स्तं त्वाद्याह गतिं गता ।

अर्थात्—हे प्रभो ! जिसके अंश-अंश को धारण करके ब्रह्मा, विष्णु आदि प्रमुख देव सृष्टि का पालन, पोषण और संहार करते हैं ।'

इसी प्रकार से इन्द्र आदि के द्वारा की गई स्तुति भी श्रीकृष्ण के परात्पर पुरुष के रूप को पुष्ट करती है। अतः यह निर्विवाद मानना होगा कि भगवान् कृष्ण अनादि काल से रहने वाले महासिद्ध हैं।

योग-दर्शन में भगवान् पतञ्जलिदेव ने ईश्वर के लक्षण स्वरूप निम्न सूत्र प्रस्तुत किया है:—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः । —योगदर्शन १-२४

अर्थात्—जो क्लेश कर्म और विपाकाशय से अछूता है वह पुरुष विशेष ईश्वर है।

भगवान् व्यासदेव ने इस सूत्र की व्याख्या में अपने विचार भी इस रूप में स्पष्ट किये हैं:—

यथामुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यतेनैवमीश्वरस्य, सतु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः इति ।

अर्थात्—जो लोग तीन बन्धनों को काट-कर मुक्ति को प्राप्त होते हैं वे पहले बन्धन में हैं और जो योगी लोग प्रकृतिलीन हैं और अपने आपको कैवल्य पद में विलीन समझ रहे हैं वे बाद में पुनः बन्धकोटि के अन्दर आजायेंगे किन्तु यह सारे के सारे ईश्वर के सदृश बिल्कुल नहीं होते। इसलिए यह पुरुष विशेष हमेशा मुक्त है और हमेशा ईश्वर है। उसका ऐश्वर्य साम्यातिशय विनिर्मुक्त है। अतः अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य भी साम्यातिशय विनिर्मुक्त है इसलिए उनका आदि महासिद्ध होना अनायास ही सिद्ध है।

भगवान श्रीकृष्ण को हम लीलावतार कहते हैं किन्तु उनके जीवन में घटित होने वाली घटनाएं उनको एक सफल ऐश्वर्य सम्पन्न योगीराज का ही अवतार सिद्ध करती हैं। जन्म से लेकर स्वधामगमन तक उनकी जितनी भी लीलाएं हुई हैं उन सभी में उनकी योग-शक्ति प्रकट होती है। उनका कारावास में जन्म लेना और जन्म भी एक अति अद्भुत घटनाक्रम ही कहा जा सकता है इस प्रकार से संसार में अन्य कोई बालक जन्म नहीं लिया करता। इसके अलावा विलक्षण ढङ्ग से अपनी माता के सामने वे अपने दिव्य चतुर्भुज रूप से प्रगट हुए जैसाकि श्रीमद्भागवत में लिखा है:—

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं ।
चतुर्भुजं शङ्खगदार्युदायुधम् ।
श्री वत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं ।
पीताम्बरं सान्द्रपयोद सौभगम् ॥

× × × ×

महार्हवैदूर्य किरीट कुण्डल ।
त्विषापरिष्वक्त सहस्र कुन्तलम् ॥
उद्दामकाञ्च्यङ्गद कंकणादिभि ।
विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥

अर्थात्—वासुदेव जी ने देखा कि उनके सामने किरीट, कुण्डल एवं वन-माला धारण किये हुये मेघ वर्ण सुन्दर श्याम शरीर वाला और अपनी चारों भुजाओं में शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किए हुये एक सुन्दर बालक खड़ा है। इसी प्रकार से देवकी ने भी उनके इस रूप को देखा और उस अद्भुत रूप को देख-कर वे उस रूपक तेज को सहन न कर सकीं और उन्होंने विनम्र भाव से प्रार्थना की कि हे प्रभो! इस धारणा ध्यान के लिए मंगल-मय जो आपका दिव्य चतुर्भुज रूप है वह हम हाड़ मांस चमड़े के शरीर धारण करने वाले साधारण मनुष्य-लोक के जीव इसे देखने के अधिकारी नहीं हैं इस समय आपने मेरे से जन्म लेने का अभिनय किया है अतः अपने इस अलौकिक दिव्य रूप तेज को छिपा-कर साधारण मनुष्य रूप में ही मेरे सामने

प्रगट हुए। अपनी माता देवकी को इस प्रकार भयभीत देखकर जगदात्मा अपने उस दिव्य चतुर्भुज रूप से अन्तर्हित होकर उसके सामने अपनी योगमाया से बालक के रूप में प्रगट हो गये। यों अपने अद्‌भुत दिव्य चतुर्भुज रूप का माता के सामने प्रगट करना और फिर उसको छिपा लेना यह उनकी योग-शक्ति का अद्‌भुत प्रभाव था। ऐसे एक साधक सिद्ध योगी के लिये यह क्रिया अपनी साधना के बल पर आधारित रहती है, पर उसको कठोर संयम के द्वारा ही ऐसा करना पड़ेगा। किन्तु आदि महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिये ऐसा कर डालना न के बराबर सहज कार्य ही था।

पातञ्जल योग-दर्शन एवं अन्तर्धान क्रिया में भगवान पतञ्जलि जी अपने योग-सूत्र में बतलाते हैं :—

कायरूप संयमात्तद्ग्राह्य शक्ति स्तम्भे-चक्षुः प्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम्

अर्थात् जिस समय योगी अपने संयम के बल से काया के रूपमें अपने मन को संयमित करता है, उस समय उसके शरीर पर सर्व-साधारण की आँखों का प्रभाव नहीं पड़ सकता। चक्षुः प्रकाशासंयोग होने के कारण वह अपने आपको छिपा लेता है। यह साधना सिद्ध योगी को अपने योगसिद्ध ऐश्वर्य के बल पर संयम के बल से करनी पड़ेगी। किन्तु महायोगी ईश्वर सिद्धों के महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिए यह अद्‌भुत कार्य कुछ भी अर्थ नहीं रखता। उन्होंने अपने माता-पिता के सामने अपने दिव्य चतुर्भुज स्वरूप को प्रगट करके दिखला भी दिया और तत्काल उनके विनय करने पर अपने उस स्वरूप को छिपा भी लिया। फिर सहज काय निर्माण शक्ति से अपने आपको बालक रूप में प्रगट कर दिया। यह उन महा योगेश्वर के योग-ऐश्वर्य की पहली झलक थी, जो देवकी वसुदेव ने अपनी आँखों से देखी। इसके बाद उन्होंने अपने योग बल बाल-लीला आरम्भ की। इस कथा-प्रसंग को प्रायः सभी कृष्ण-भक्त जानते ही होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

योगेश्वर का सहज शुभ संकल्प

कंस के कारागार से श्री वसुदेव जी बाल-रूप भगवान को गोकुल पहुँचा आये थे। कंस के कारागार के दरवाजों का अपने आप खुल जाना और वसुदेव जी के लौट आने पर उसी तरह पुनः बन्द हो जाना यह उनकी स्वाभाविक संकल्प शक्ति का ही परिणाम था। यह कोई कठिन कार्य न था केवल मात्र संकल्प से हो जाना उन सब कार्यों का जनक था।

साधन-सिद्धों की सङ्कल्प-सिद्धि का साधन

एक साधक योगी को जन्म-जन्मान्तरों के सत्य को धारण करने की यह सिद्धि प्राप्त होती है। योग-दर्शन बतलाता है :—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।

अर्थात् सत्य प्रतिष्ठ योगी की वाणी क्रिया-फल वाली हो जाती है और ज्योंही मनुष्य बाह्य रूप से सत्य की साधना करता हुआ समाधि के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करता है तो वह सत्य संकल्प हो जाता है। उसको अनायास ही सिद्धि प्राप्त रहा करती है। ऋतम्भरा प्रज्ञा का अर्थ 'ऋतम् सत्यम् बिभर्ति या ऋतम्भरा' अर्थात् जिस योगी की बुद्धि सत्य को धारण करती है, वह ऋतम्भरा प्राप्त योगी जो भी मन में संकल्प करता है, प्रकृति उसको स्वीकार कर लेती है और उसके संकल्पित कार्य अनायास ही होने लग जाया करते हैं। यह साधारण मनुष्य अपने साधन के बल से प्राप्त कर पाता है। किन्तु अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण के लिए यह कोई भी बड़ी बात नहीं थी। वे स्वयं सत्य स्वरूप हैं। श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध के दूसरे अध्याय में जहाँ पर गर्भ स्तुति की गई है, वहाँ पर ब्रह्मा जी ने उनकी स्तुति करते हुए उनको सत्यात्मक कहा है—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं,
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृत सत्य नेत्रं,
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

अर्थात् ब्रह्माजी करबद्ध स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना करते हैं कि सदा सर्वदा सत्य रखने वाले सत्यपरायण सत्यात्मक हम आपकी शरण में होते हैं। इसलिये सत्य संकल्प अनादि महासिद्धि श्रीकृष्ण के लिये कारागार के दरवाजों का खुल जाना और उनके लौट आने पर उनका फिर बन्द हो जाना एक बहुत साधारण कर्म था। किन्तु यह शक्ति जैसा कि हमने ऊपर कहा है—साधक योगी के लिये बड़ी कठिन साधना के बाद प्राप्त बन पाती है। आगे भगवान की गोकुल-लीलायें प्रारम्भ होती हैं। नन्दराय जी ने उनका जन्मोत्सव मनाया—मंगल, गीत-वाद्य आदि के सब उपक्रम हुए और इसके बाद भी जिस समय नन्दराय जी कंस को वार्षिक कर देने गये हुए थे, उसी अवसर को पाकर पूतना सुन्दर रूप धारण कर गोकुल में आ गई और घूम-घामकर नन्द के घर में जा पहुँची। अनायास ही बालक रूप में छिपे उस परम योगेश्वर को अपनी गोद में लेकर अपने विषमय स्तनों का पान कराने लगी, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला। भगवान श्रीकृष्ण अपने उसी दिव्य स्वरूप में पूर्ववत् खेलते रहे। इसके विपरीत पूतना के प्राण पखेरू उड़ गये एवं श्रीकृष्ण के संकल्प से उसने सद्गति पाई। यह उस अनादि महासिद्धि की सहजवशिता थी जिसमें पंच-महाभूतों पर उनका पूर्ण अधिकार प्रतीत हुआ था। इसके लिये उन्हें किसी प्रकार की साधना की आवश्यकता नहीं पड़ी, क्योंकि यह उनका 'ईश्वराः सर्वे गुणाः' कथनानुसार सहज

ही व्यापार है। यद्यपि साधना करने वाला योगी साधन सिद्धता को पाकर इस शक्ति को प्राप्त कर लेता है, किन्तु यह उनकी सहज सिद्धता है और अनादि महासिद्ध श्रीकृष्ण का यह सहज वशीकार है। हमें योग-दर्शन बताता है-

परमाणु-परम महत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ।

अर्थात् योगी का संयम बल इतना बढ़ जाता है कि वह चाहे परमाणु से लेकर परम महत्तत्व अर्थात् मूल प्रकृति पर्यन्त पूर्ण वशीकार रहता है। जहाँ भी जिस वस्तु में अपने को संयमित करता है उस तत्व को जान लेता है और उस पर भी अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसी बल के आधार पर भूतजय की सिद्धि को प्राप्त करता है।

योगी का भूतजय एवं अणिमादिक की प्राप्ति

एक साधक योगी पंचभूतों पर अधिकार प्राप्त करने के लिये संयम करता है और उनका साक्षात्कार करता है। बाद में कठिन प्रयास के बाद वह भूतजय की सिद्धिको प्राप्त करता है और अणिमादि का अधिकारी बनता है। योग-दर्शन में भगवान् पतञ्जलि लिखते है—

स्थूलस्वरूप सूक्ष्मान्वयार्थवत्व संयमाद्भूतजयः ।

अर्थात् योग-दर्शन में पाँच महाभूत माने गये हैं—(१) स्थूल, (२) स्वरूप, (३) सूक्ष्म, (४) अन्वय, (५) अर्थवत्व। वे इस प्रकार हैं—

(१) स्थूल—पंच महाभूतों का स्थूल स्वरूप इस प्रकार का है जैसे पृथ्वी का पृथ्वी ही स्थूल रूप है और जल का जल का जल तथा वायु का वायु ही स्थूल रूप है। इसी प्रकार से अग्नि का अग्नि और आकाश का खाली पोल। यह सभी इन पाँच महाभूतों के स्थूल स्वरूप है, जो स्वरूप हर व्यक्ति को देखने में आते हैं।

(२) स्वरूप—दूसरा रूप उनका स्वरूप है। उदाहरण के लिये पृथ्वी में गन्ध, जल में चिकनाहट, अग्नि में गर्मी, वायु में कम्पन और आकाश में पोल। यह इन पाँच महाभूतों के स्वरूप हैं।

(३) सूक्ष्म—तीसरा रूप सूक्ष्म है जिसको तन्मात्र कहा जाता है, जैसे पृथ्वी का तन्मात्र गन्ध, जल का तन्मात्र रस, अग्नि का तन्मात्र रूप, वायु का स्पर्श तन्मात्र है। यह पंचभूतों का तीसरा रूप है।

(४) अन्वय—चौथा रूप अन्वय है। अन्वय का अर्थ ओतप्रोत रहना जैसे सतोगुण, तमोगुण-रजोगुण यह तीनों गुण अपने प्रकाश-प्रवृत्ति और स्थिति वाले धर्मों से सर्वत्र अनुगत रहते है, यही पंचभूतों के अन्वय रूप हैं।

(५) अर्थवत्व—अर्थात् इनका सार्थकता होना इनसे कोई उपकार हो, लाभ हो, सो यह पाँचों महाभूत अपवर्ग के दाता हैं। महा-

भूत के सम्मिश्रण से ही मनुष्य भोग का भोक्ता है। इसलिये नित्य चेतना आत्मा बौद्ध धर्मों का अनुगामी होकर पंच महाभूतों में अन्वित सभी प्रकार के दृश्यात्मक भोगों का भोक्ता रहता है। दृश्य का दूसरा कार्य अपवर्ग है। जिस समय जीव वैराग्य-भाव को प्राप्त होकर बराबर सूक्ष्मतर और उसके सूक्ष्मतम तत्त्वों में संयम करता हुआ आगे बढ़ता रहता है,तब वह अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है। भूतों के इन भिन्न पांच रूपों में जब तक योगी साक्षात् पर्यन्त बराबर करता रहता है तो उसके फलस्वरूप वह भूतजय को प्राप्त करता है और भूतजय कर लेने पर—

तततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।

अर्थात् पंचभूतों पर विजय प्राप्त कर लेने पर अणिमादिक सिद्धियाँ योगीको अनायास ही प्राप्त हो जाया करती हैं। इस सूत्र के भाष्य में भगवान व्यासदेव जी लिखते हैं—

तत्राणिमा भवत्यणु। लघिमा लघुर्भवति। महिमा महान् भवति। प्राप्तिः अंगल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्यमिच्छानभिघातो भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके। वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवत्यवश्यश्चान्येषाम्। ईशित्वं तेषां प्रभवाप्ययव्यूहानामीष्टे यत्र कामावसायित्वं सत्यसङ्कल्पता यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्।

अर्थात् भूतजय प्राप्त कर लेने पर योगी को अणिमादिक सिद्धियाँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं :—

(१) अणिमा—भवत्यणु-अणुमात्र हो जाना।

(२) लघिमा—लघुर्भवति—हल्का हो जाना।

(३) महिमा—महान भवति—बड़ा हो जाना।

(४) प्राप्ति—अङ्गुल्यग्रं स्पृशति—अँगुली के अग्रभाग से चन्द्रमा को छू लेने की ताकत होना।

(५) प्राकाम्य—इच्छानभिघातो भूमावुन्मज्जति—किसी भी प्रकार की इच्छा का न रुकना, पूर्ण हो जाना, चाहे तो योगी जिस प्रकार सर्व साधारण मनुष्य जल में गोता लगा लिया करते हैं और बाहर निकल आया करते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी में प्रवेश करके बाहर निकल आये।

(६) वशित्वम्-भूतभौतिकेषुवशी भवति-अर्थात् पंच महाभूतों से बनने वाले सभी पदार्थों पर उस योगी का पूर्ण वशीकार होता है और वह स्वयं किसी के वशमें नहीं रहता।

(७) ईशित्व—तेषाम्प्रभवोप्ययव्यूहानामीष्टे—अर्थात् पंच महाभूतों के भौतिक कार्यों को बनाना और बिगाड़ने की सामर्थ्य रखना।

(८) यत्रकामावसायित्वम्—सत्य संकल्पता—अर्थात् सत्य संकल्पता जैसे योगीकी इच्छा होती है, पञ्चभूतों का उस प्रकार अव-

स्थान हो जाता है और इन महा सिद्धियों को पाकर योगी सर्व सामर्थ्यवान बन जाता है। महाभूतों का कोई भी कार्य उसके प्रतिकूल नहीं होता, प्रत्युत उसको काय सम्पत् और प्रगट हो जाती है। काय सम्पत्ति को भगवान पतंजलि जी ने इस प्रकार कहा है—

रूप लावण्य बलवज्र संहननत्वानि कायसम्पत्।

अर्थात् रूप—अत्यन्त रूपवान् कान्तिवान वज्र के समान दृढ़ और सब प्रकार अच्छेद्य शरीर वाला होता है। सब प्रकार से शरीर की अच्छेद्यता अभेदता को प्राप्त रहना यह योगी की काय सम्पत्ति है, जो भूतजय प्राप्त होने पर स्वभाव से ही बनी रहती है। साधन-सिद्ध योगी को जीवन भर की कठिन साधना के बाद भूतजयता प्राप्त होती है। तब उसके ऊपर भूतों के दुष्परिणाम नहीं हो पाते। भूतजय योगी विपरीत करके उनको सहज में ही पचा जाता है और अमृत के गुणों को अपने अन्दर प्रकट कर लेता है। साधना करने वाले योगी को यह सम्पत्ति बड़े कठिन प्रयत्न के बाद प्राप्त हुआ करती है, किन्तु अनादि महासिद्ध सदैव ईश्वर: सदैव मुक्त के स्वरूप को धारण करने वाले को सब खेल जैसी बात थी। उन्होंने अपनी इस बलीय सी अवस्था में ही संकट को पैर मार कर अपने अतुल बल का परिचय दे दिया। वह उनका बिना किसी साधना के सहज योग ऐश्वर्य था। दूसरे योगी कठिन तपस्या के बाद इसे प्राप्त कर पाते हैं तब इतने बन पाते हैं।

बल प्राप्ति का अमोघ साधन

योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव अपने शरीर में अतुलित बल बढ़ाने का एक अमोघ साधन बतलाते है। साधक योगी पहले ब्रह्मचर्य व्रत आदि का पूर्ण रूपेण पालन करके बाद में धारणा, ध्यान, समाधि का निरन्तर अभ्यास करते हुए संयम-सिद्धि को प्राप्त करे। तब वह अपनी साधना के बल पर अपने शरीर में हाथियों के बलों को उत्पन्न कर सकता है। चीते जैसी स्फूर्ति ला सकता है। बशर्ते उसने अपनी साधना को निरन्तर श्रद्धापूर्वक आदर सहित किया हो। भगवान पतञ्जलिदेव बतलाते हैं—

बलेषु हस्तिबलादीनि।

यदि योगी बलों के अन्दर संयम करता है तो उसके अन्दर तत्काल हाथियों का सा बल बढ़ जाता है एवं उसका शरीर वज्र के मानिन्द दृढ़ हो जाता है। उसके लिये पर्वतों को तोड़ देना न कुछ के बराबर होता है, किन्तु साधना सिद्धों के लिए यह सब उनकी अपनी साधना के बल पर होता है पर अनादि काल से स्वतः सिद्ध रहने वाले महान आत्मा श्रीकृष्ण के लिए यह अनायास सहज कर्म था, जो उनके ईक्षण मात्र से स्वतः हो गया।

तृणावर्त का वध तथा लघिमा एवं गरिमा का प्रयोग

भगवान के इससे आगे के चरित्र-वर्णन में तृणावर्त राक्षस की कथा है। यह तृणावर्त के रूपधारी कंस का एक नौकर था, जिसने 'झंझावात' का रूप धारण कर गोकुल में बड़ा भारी आतंक मचा दिया। सम्पूर्ण गोकुल गाँव धूल-रज से भर गया। उस झंझावात में एक दूसरे के शरीर नहीं दिखाई पड़ते थे। महा अन्धकार छा गया था। माता यशोदा ने अपने बाल गोविन्द को एक ओर जमीन पर बिठा दिया था। राक्षस तृणावर्त का दाव लग गया और वह उनको उठाकर आकाश में ले गया। तृणावर्त के मनोभाव जानकर भगवान ने अपने आपको रुई के समान हल्का बना लिया और उसके वेग के साथ-साथ आकाश में चले गये तथा तृणावर्त के गले को बालक के रूप में छिपे पकड़े हुए उस दिव्य तेज ने आकाश में पहुंचकर और उसके गले को पकड़कर गरिमा के प्रयोग से इतना भारी अपने आपको बना लिया कि श्रीमद्भागवत् में व्यास जी को यह शब्द कहने पड़े—

तमश्मानं मन्यमान,
आत्मनो गुरुमत्तया।
गले ग्रहीत उत्स्रष्टुं,
नाशक्नोदद्भुतार्भकम् ॥

अर्थात् उस तृणावर्त राक्षस ने भगवान श्रीकृष्ण को पत्थर के मानिन्द भारी समझा। भगवान ने उसके गले को पकड़ रखा था। भारी प्रयत्न करने पर भी वह अपना गला नहीं छुड़ा सका और अन्त में उसको मृत्यु के मुख में ही जाना पड़ा। जगदात्मा की यह सारी लीलाएँ योग से ही सम्बन्ध रखने वाली हैं। अन्य जितने भी अवतार हुए उनमें से किसी ने भी कहीं पर इतने विशेष ऐश्वर्य का प्रदर्शन नहीं किया कि जिससे उनके चरित्रों से यौगिक ऐश्वर्य झलक पड़े। भगवान श्रीकृष्ण का सारा लीला-चरित्र योग-ऐश्वर्य से परिपूर्ण है। किन्तु यह उनके सब कार्य उनमें संकल्प मात्र जन्य थे और यही सब उनकी अनादि काल से चली आने वाली सिद्धता है।

इस छोटे से लेख में उन जगदात्मा के अलौकिक योग ऐश्वर्य को संक्षिप्त दिखलाने का प्रयत्न किया है। मैं समझता हूँ कि इन चरित्रों के पढ़ने से हर साधक को योग की उत्कृष्टता का ज्ञान अवश्य हो जायेगा। भगवान् श्रीकृष्ण स्वतः सिद्ध थे किन्तु उन्होंने अपने जीवन में जिस प्रकार अणिमादिक ऐश्वर्य का प्रयोग किया है उस ढंग की साधना करने वाले योगी यत्र-तत्र मौजूद हैं जिनकी इस प्रकार की रस कथायें परम्परा से अवगत होती ही रही हैं। साधारण साधक समुदाय के अन्दर भी लोग अपनी छोटी-मोटी प्राण-शक्ति का प्रदर्शन आज दुनिया

卐 शुकोपदेश 卐

❀ श्री वियोगी हरि

इस अथाह संसार—सिन्धु में डूबा जीव पड़ा है,
जन्म—जन्म से शोक—मोह का दारुण दुख बड़ा है।
ऐसे नरक-तुल्य जीवन से जिसे विराग न आया,
विफल जन्म उस मूढ़ मनुज का, लेश न सुख का पाया॥

निखिल विश्व में नृत्य कर रही नटी विमोहिनि माया,
हुआ निकलना कठिन जीव का, अद्भुत जाल बिछाया।
पर यह सब मिथ्या है ऐसा देखा जिसने, नारी!
हुआ सचेत समाधि साध कर वही मोक्ष अधिकारी॥

वह वैराग्य योग बल से भव - सिंधु पाट देता है,
जन्म-जन्म की कर्म ग्रन्थि को सहज काट देता है।
किन्तु जीव ने यदि मायाकृत नृत्य सत्य है यह माना,
उसे अवश्य विवश शोकाकुल नरक पड़ेगा जाना।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

में किया करते हैं सैकड़ों मन का वजन अपनी छाती पर रखाते हैं। बैलों की गाड़ी ट्रक अपनी छाती पर से उतरवाते हैं। यह उनकी प्राणशक्ति का थोड़ा सा प्रदर्शन होता है। इसमें संयम बल की कोई भी साधना नहीं किन्तु प्राण पर थोड़ा सा जय प्राप्त करने पर वे लोग इस प्रकार के अद्भुत कर्म करके दिखलाया करते हैं। जब मुझसे कोई यह पूछता है कि परमात्मा की ओर चलने वाले मार्गों में आपको कौन सा प्रिय है तो मुझे उसी समय केवल मात्र लीला तनु-धारण करने वाले श्रीकृष्ण की स्मृति हठात् आया करती है और मेरी वाणी से एक ही उत्तर मिलता है। कि परमात्मा की ओर आने वाले रास्ते बहुत हैं और 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के नियमानुसार अपने मार्गों की योगी तय भी कर लेता है किन्तु हमारे पूर्वजों ने जिस विद्या का मनन किया तथा श्रीकृष्ण-लीला अभिनय के अन्दर जो विद्या पग-पग पर टपकती है वह पवित्र योग विद्या ही है। इस छोटे से लेख में भगवान श्रीकृष्ण की चार-पाँच कथाओं की ओर संकेत करके उनके योग ऐश्वर्य को बतलाने का ही प्रयत्न किया गया है।

सरित-सलिल-कम्पित कलकल रव-नादित तपस्थली में,
श्री हरि नामांकित कुटीर-तट, तुलसी-वन-अवली में।
है, जिसका अनुरक्त चित्त इस परम योग-साधन में,
है आसक्त नहीं होता यह तुच्छ काम काञ्चन में॥

व्यर्थ वाक्य—व्यय करने से कुछ लाभ न होगा जा तू,
रम्भे ? रूप-रंग अपना यह अब मत यहाँ लजा तू।
हूँ साधक मैं, हट जा रम्भे! कहा मान तू मेरा,
इस निर्जन पावन कानन में नहीं काम कुछ तेरा॥

शान्तामृत के सम्मुख नीरस काम—वासना सारी,
जहाँ योग है वहाँ भोग का नहीं काम कुछ, नारी!
विषय-वास से योग-शील मम तिल भर नहीं टलेगा,
मुझ संन्यासी पर रम्भे! तव छल—बल नहीं चलेगा॥

मृग-मद-मलय कलित केसर का तिलक ललाट लगाकर,
मुक्ता—माल कण्ठ कर धारण कृत्रिम रूप सजाकर।
हे सुरेन्द्र—प्रेषित रम्भे! तू मुझे मोहने आई,
ब्रह्म-अग्नि में आई जलने, कहाँ कुमति यह पाई?

पिण्ड वस्तुतः मांस—मज्जा—मल—अस्थि रुधिरमय तेरा,
ऐसी घृणित वस्तु पर होगा क्यों मोहित मन मेरा?
हूँ सचेत, उस नरक पुरी में क्या मैं भ्रमण करूँगा?
ब्रह्म लोक का मार्ग त्याग क्या माया—मार्ग गहूँगा?

हैं अति तुच्छ अनित्य भोग सब स्वर्ग तथा वसुधा के;
पड़ते हैं कामान्ध लोभ में तन-स्वर्गीय सुधा के।
लौट स्वर्ग जा, मातृ-भाव से ले प्रणाम तू मेरा,
यह बालक वात्सल्य-स्नेह ही सतत चाहता तेरा॥

नोट—[शुक द्वारा उपरोक्त उपदेश इन्द्र द्वारा प्रेरित रंभा को तपोवन में उस समय दिया गया था जब कि वह यतिवर शुक को वहाँ तपस्या से च्युत करने के लिए तथा अपने रूप-सौन्दर्य के प्रति आकर्षित करने गई थी।]

हनुमद्-भक्तिपरक साहित्य पर प्रभाव

[लेखक के शोध-प्रबन्ध का एक अंश]

❀ श्री डा० केशवराम शर्मा (साहित्याचार्य)

हनुमान् की प्रतिष्ठा का मूल श्रीराम की सेवा तथा भक्ति है। जिस प्रकार अपनी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई लोकप्रियता के लिए वे श्रीराम के ऋणी हैं, ठीक वैसी ही स्थिति हनुमद्-भक्ति के विकास-क्रम की भी है। राम-भक्ति के प्रचार के साथ ही प्रायः उसी के अनुरूप हनुमद्-भक्ति का भी प्रसार होता रहा है। आरम्भ में रामकाव्यों में ही हनुमद्-भक्ति का बीजांकुरण होता है। रामकथा की जो विशिष्ट घटनाएँ आंजनेय के बुद्धि-कौशल तथा पराक्रम से सम्बद्ध थीं, कालान्तर में उनके आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन होने लगा। 'हनुमत जसलीला' [प्रह्लाद दास पाठक 'जन'] 'हनुमतछब्बीसी' [मनियार सिंह], 'श्री हनुमत बाल-चरित्र' [बूलाल भट्ट], 'हनुमान नाटक' [उदय], 'हनुमान दूत' [हरगोविन्द सिंह] आदि इसी प्रकार के प्रयास हैं।

(अ) आराध्य के प्रति श्रद्धा की दृष्टि से

हनुमान् राम के अनन्य भक्त तथा सेवा-धर्म के आदर्श हैं। क्योंकि "भक्ति के लिए किसी पहुँचे हुए भक्त का प्रसाद भी भक्ति-मार्ग में अपेक्षित होता है।"१ अतः सभी रामभक्तों का मारुति की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक है। सुग्रीव, विभीषण आदि को विदा करते समय श्रीराम ने हनुमान् को अपना प्रतिनिधि बनाकर संसार के कल्याण-हेतु अजरामर होकर रहने का आदेश दिया था। प्रभु ने आंजनेय की इच्छा से व्यवस्था की थी कि नित्य प्रति अप्सराएँ उन्हें (हनुमान् को) रामचरित सुनाया करेंगी।२ जहाँ-जहाँ भगवान राम के पवित्र गुणों की तथा उनकी कथा होती है, वहीं-वहीं हनुमान् प्रच्छन्न रूप से अथवा छद्मवेष में उपस्थित होकर उसका रसास्वादन करते हैं। इस कथन की पुष्टि महाराजा रघुराजसिंह की 'राम-रसिकावली' की इन पंक्तियों से भी होती है—

"अरु जहँ-जहँ रघुपति कथा,
साादर बाँचत कोइ।
तहँ-तहँ धरि सिर अंजली,
सुनत पुलक तन सोइ॥"३

'श्रीमद्भागवत' के अनुसार "किंपुरुषवर्ष"

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १४९
२. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, ४०/१७-२२
३. कल्याण—श्री हनुमान विशेषांक, पृष्ठ २४१ से उद्धृत

के उपास्यदेव आदि पुरुष भगवान राम हैं। वहां परम भागवत हनुमान अनेक किन्नरों के साथ अविचल भक्तिभाव से अपने प्रभु की उपासना करते हैं तथा गन्धर्वादि श्रीराम की पवित्र कथा का गायन करते हैं, जिसे आंजनेय तन्मय होकर सुनते हैं।१ जहां तक हनुमान की भक्ति का प्रश्न है—"पूज्यदेव के रूप में हनुमान की प्रतिष्ठा महाभारत काल में ही हो चुकी थी। अर्जुन द्वारा मंत्र-जाप करके हनुमान को प्रसन्न करने और उनसे वरदान प्राप्ति का प्रसंग इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।२ मुमुक्षुओं को प्रभु के पास पहुंचाने के लिए ही सरकार हनुमान जी को यहां छोड़ गये हैं। वे करुणानिकेतन, उदार तथा समर्थ हैं। उनकी पूजा से सिद्धि शीघ्र ही सुलभ हो जाती है, मनोकामनाएं पूर्ण हो जाती हैं, संकट-मोचन तो उनका नाम ही है।"३

हनुमद्भक्ति का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। संस्कृत-साहित्य में हनुमान का चरित्र प्रायः राम-कथा के प्रसंग में ही पल्लवित हुआ है। यहां तक कि 'हनुमन्नाटक' में भी राम-कथा की ही प्रधानता है, यह दूसरी बात है कि—"राम-साहित्य में कहीं-कहीं राम से भी अधिक हनुमान के शौर्य तथा ओज का जीवंत चित्रण हुआ है। हिन्दी साहित्य में प्रचुर मात्रा में हनुमानात्मक कृतियां स्वतन्त्र रूप में भी उपलब्ध होती हैं, यद्यपि वे अधिकांशतः स्तुतिपरक हैं और उन पर पौराणिक प्रभाव बराबर विद्यमान है।"४

हिन्दी साहित्य में हनुमान की पूजा को विशेष बल मिला है। आंजनेय के बढ़ते हुए महत्त्व का श्रेय जहां पौराणिक साहित्य को है, वहीं हमारी दृष्टि में मध्यकाल की राजनैतिक परिस्थितियां भी इसकी जनक हैं। अत्याचारी विधर्मियों के दांत खट्टे करने के लिए 'रौद्रस्वावतार', 'दनुजवनकृशानु'५, हनुमान के समकक्ष कोई भी देवता भक्त कवियों को दृष्टिगोचर नहीं था। यथा—"दूजो बलवान हनुमान सो हेरो मैं।"६ "आतंक को आतङ्क कहा, जो सहायक हैं हनुमंत हमारो"७ तथा "चौदहों भुवन हेरे राम रघुवीर हेरे राम रघुवीर हनुमान के बदन को।"८ स्पष्ट है कि जब अपने संकटों के निवारण के लिए स्वयं राम ही हनुमान

१. श्रीमद्भागवत, ५/१९/१-२
२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पञ्चम भाग, पृष्ठ २६७
३. सिया रामस्वरूप शरण 'मधुरमलता'—श्री हनुमत-तत्त्व प्रकाश, पृष्ठ १७
४. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पञ्चम भाग, पृष्ठ २६७
५. रामचरित मानस, ५/ आरम्भ का श्लोक ३
६. ७. तथा ८. लछिराम-हनुमन्त-शतक, छन्द सं० १६, ६० तथा २

की ओर देखते हैं, तो अन्य भक्त भी राम के माध्यम से हनुमान से काम कराने की अपेक्षा सीधे "दोहाई रामदूत की प्रभंजन के पूत की"[१] क्यों न पुकारेंगे ? अनेक कवियों ने विविध रूपों में संकट-मोचन का स्मरण किया है :—

(१) श्री रघुवीर को दूत महाबल संकट मोर हरो हनुमंता ।[२]

(२) पीर के हरन बीर बरन तिहारे हैं ।[३]

(३) संकट मोचन नाम बल,
पुनि केसरी किसोर ।
गज सम मम रज हरन को,
है तुमको यह मोर ।।[४]

(४) या बिधि मोर कलेस हरो,
हनुमान तुम्हें सियराम दोहाई ।[५]

(५) को नहि जानत है जग में कपि,
संकटमोचन नाम तिहारो ।[६]

(६) भूत-पिशाच निकट नहिं आवै ।
महावीर जब नाम सुनावै ।[७]

(७) आपो हनुमंत जैसो आवत बनात है ।[८]

(८) त्रिभुव विमर्दन को मर्द पौन पूत है ।[९]

(९) बांचे कौन असुर दमाने हनुमान के ।[१०]

(१०) हर भक्तन को भाई तू,
सहाई दीन जन को ।[११]

(११) मेरे तो भरोसे नाम हनुमान बीर को ।[१२]

(१२) जो जो हनुमान को कलपतरु हेरो मैं ।[१३]

इत्यादि उद्धरणों में हनुमान संकटमोचन, व्याधि-विनाशक, भूतादि से रक्षक, सर्व-सुखकारी, शत्रु-संहारक, श्रीराम के भक्तों के सहायक तथा मनवांछित फलों के दाता परमप्रभु के रूप में उपस्थित हैं। इस साहित्य के पूर्ववर्ती तथा समकालीन राम-साहित्य में श्रीराम के प्रति परा तथा अपरा दोनों प्रकार की भक्तियों का उचित प्रतिपादन है, किन्तु

---

१. गणेश-हनुमत द्वादश, ६
२. मुक्तानन्द मुनि-हनुमान स्तोत्र, २
३. गुरुदत्त-कवित्त हनुमान जी के, ५
४. पं० राम अधीन रामायणी-हनुमत पंचदशी स्तोत्र आदि का दोहा सं० २
५. तुलसी-हनुमत पंचक, प्रत्येक छन्द के अन्त में
६. तुलसी-संकटमोचन हनुमानाष्टक, सब सवैयों की अन्तिम पंक्ति
७. तुलसी-हनुमान चालीसा, पंक्ति २४
८. भगवंत राय खीची—हनुमान जी के कवित्त, छन्द ४८
९. मान—हनुमत पच्चीसी, छन्द ३
१०. मखन कवि—हनुमतमाला छन्द, ४९
११. मान—हनुमत पच्चीसी, छन्द १२
१२. कृपा निवास—हनुमत पच्चीसी, छन्द १
१३. नवीराम—हनुमन्त शतक, छन्द ४

हनुमद्-भक्ति-परक साहित्य का अधिक झुकाव अपरा भक्ति की ओर है। जहाँ तक लौकिक कामनाओं की पूर्ति तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष शत्रुओं के विनाश का प्रश्न है, हनुमान की महत्ता राम से भी अधिक है। गणेश कवि ने सम्भवतः इसी ओर संकेत करते हुए लिखा है—'धन्य रघुनाथ जाको दूत हनुमान सो।'१ निश्चय ही हनुमान किसी भी मूल्य पर अपने स्वामी से अधिक महत्वपूर्ण बनने की अभिलाषा नहीं कर सकते। दूसरी ओर अपने भक्त की सतत बढ़ती हुई इस प्रतिष्ठा से श्रीराम को हार्दिक प्रसन्नता होती होगी। वैसे तो कवि गणेश ही क्या तुलसी जैसे मर्यादावादी भक्त ने भी हनुमान का जयघोष करते हुए लिखा है—

साहब तें सेवक बड़ो, जो निज धरम सुजान।
राम बाँधि उतरे उदधि, लाँघि गये हनुमान॥२

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जहाँ तक आराध्य के प्रति श्रद्धाभाव का प्रश्न है, हनुमद् भक्ति श्रीराम की भक्ति से पूर्णतया प्रभावित है। आरम्भ में भक्तों के जिस प्रकार के भाव भगवान् राम के प्रति थे, शनैः-शनैः ठीक उसी प्रकार के या उससे भी अधिक हनुमान के प्रति जाग्रत हुए तथा इस संघर्षपूर्ण युग में उत्तरोत्तर हो रहे हैं।

(आ) पूजा-विधान की दृष्टि से

हनुमद्-भक्ति का आनुमानिक रूप भी राम-भक्ति के साथ शनैः-शनैः विकास हुआ है। हनुमान की प्रारम्भिक मूर्तियाँ भी श्रीराम के साथ उनके पार्षद रूप में बना करती थीं। गुप्त सम्राटों के शासन-काल में विभीषण-शरणागति के अवसर पर निर्मित एक मूर्ति के मध्य में श्रीराम उनके बायीं ओर लक्ष्मण, दाहिनी ओर विभीषण, विभीषण के दाहिनी ओर हनुमान तथा इन सबके नीचे कुछ वानर चित्रित हैं।३ शनैः-शनैः विशेष महत्त्व बढ़ने पर हनुमान की पृथक्शः मूर्तियाँ बनने लगीं और श्रीराम, लक्ष्मण तथा सीता की मूर्तियों के साथ भी इनकी स्थिति यथावत् बनी रही। प्रारम्भ में केवल श्रीराम-पूजा के अंगरूप में हनुमान की पूजा होती थी। कालान्तर में इनके पृथक्शः मन्दिर बन जाने पर आंजनेय की पूजा-विधि में अनेक प्रकार के विधि-विधान विकसित होने लगे।

श्रीराम की प्रायः सभी मूर्तियाँ माधुर्य तथा सौन्दर्य से ओत-प्रोत तथा उनके शील स्वभाव की अभिव्यंजक हैं। उन्हें किसी भी प्रकार के पुष्प, वस्त्र तथा नैवेद्य का समर्पण किसी भी दिन किया जा सकता है। दूसरी ओर शक्ति, शौर्य तथा पराक्रम के देवता

१. गणेश—हनुमंत पचीसी, छन्द ६
२. तुलसी—दोहावली, छन्द ५२८
३. डॉ० भगवती प्रसादसिंह—रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, पृष्ठ ५०-५१

हनुमान की मूर्तियाँ प्रायः ओज-गुण-समन्वित तथा भीमकाय होती हैं। संभवतः इनके पराक्रम की अभिव्यंजना के उद्देश्य से ही इन्हें रक्त पुष्प, रक्त चन्दन, रक्तवर्ण सिन्दूर तथा रक्तिम वस्त्र के ही लंगोट और उत्तरीय समर्पित किये जाते हैं।१ भौमवार तथा शनिवार का मारुति-पूजन के निमित्त विशेष महत्त्व है। कविवर बृजलाल भट्ट के अनुसार शनिवार इनका जन्म-दिन तथा भौमवार देवताओं से वरदान प्राप्ति का दिवस है। यथा—

वंदि माधवं चौदसं शनिवारं।
सभै संधि सोहै रवि अस्त सारं॥
तदा काल उत्पत्य पुत्र प्रचंडं।
भयौ रुद्र अंसं महावीरदंडं॥

तथा—

"माधव सुदि कुज प्रतिपदा,
लियो सुरन वरदान।
लोक प्रथित तब तें भयो,
वायु तनय हनुमान॥"२

आंजनेय के लिए नैवेद्य की भी विशेष व्यवस्था है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में इन्हें गुड़-धानी३ का भोग लगाया जाता है, जबकि 'हनुमानगढ़ी' [अयोध्या], 'बड़े हनुमान जी' [प्रयाग राज], 'संकट मोचन' [काशी] इत्यादि प्रसिद्ध मन्दिरों में मारुति को विशेष रूप से बेसन के लड्डू समर्पित किये जाते हैं। स्व० पं० हनुमान शर्मा ने इनके नैवेद्य के सम्बन्ध में लिखा है-"प्रातः पूजन में गुड़, नारियल का गोला और मोदक, मध्याह्न में गुड़, घी और गेहूँ की रोटी का चूरमा या स्निग्ध रोट और रात्रि में आम, अमरूद या केला आदि अर्पण करना चाहिए।"४

श्रीराम तथा हनुमान दोनों के लिए समान रूप से पंचोपचार, दशोपचार अथवा षोडशोपचार पूजा का विधान है। षोडशोपचार पूजा में—१. आवाहन, २. आसन, ३. पाद्य, ४. अर्घ्य, ५. आचमन, ६. स्नान, ७. वस्त्र (यज्ञोपवीत), ८. चन्दन, ९. अक्षत, १० पुष्प, ११. धूप, १२. दीप, १३. नैवेद्य, १४. पुनराचमन, १५. ताम्बूल तथा १६. प्रदक्षिणा का विधान है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हनुमान की पूजा में केवल वस्त्र, गंध, पुष्प तथा नैवेद्य के सन्दर्भ में विशिष्टता है। जहाँ तक पुष्प का सम्बन्ध है, कुछ विद्वानों के अनुसार हनुमान के लिए पुष्पवाची [कमल, केवड़ा, गेंदा आदि] रक्तवर्ण के पुष्पों की अपेक्षा है। दोनों देवताओं की पूजा में

१. नारद-पुराण, पूर्व भाग, ७४/४४—"रक्तचन्दन पुष्पैश्च सिन्दूराद्यैः समर्चयेत्॥"
२. बृजलाल भट्ट—श्री हनुमत बाल-चरित, २/५ तथा ४/२६
३. भुने हुए गेहूँ तथा गुड़
४. कल्याण, 'श्री हनुमान विशेषांक' के अन्तर्गत हनुमान शर्मा का लेख—'श्री हनुमान जी की उपासना', पृष्ठ ४८७

शास्त्रोक्त पद्धति से अंगन्यास, करन्यास, ध्यान तथा विनियोगपूर्वक जप-पाठ, हवनादि करने से सिद्धि होती है। श्रीराम की पूजा में रामानन्द द्वारा अपने 'रामावत सम्प्रदाय' में प्रचलित 'ॐ रामाय नमः' इस षडक्षर मन्त्र की विशेष महत्ता है। हनुमान की पूजा के लिए सप्ताक्षर मन्त्र 'ॐ हनुमते नमः'[1] तथा द्वादशाक्षर मन्त्र 'ॐ ह्रौं ह्स्फ्रें ह्स्रौं ह्स्फ्रें ह्सौं हनुमते नमः'[2] सकल सिद्धियों के प्रदाता हैं। इनकी उपासना में विविध प्रकार की सिद्धियों तथा उपलब्धियों के लिए अनेक मन्त्रों की व्यवस्था है। तान्त्रिकों में आंजनेय की पूजा का विशेष प्रचलन है। उनकी अधिकांश सिद्धियाँ अर्द्धरात्रि में होती हैं। अनेक प्रकार की अष्टदल में प्रयुक्त होने वाले हनुमान के शाबर मन्त्रों की संख्या भी अपार है। इनकी उपासना के निमित्त एकमुखी, पञ्चमुखी, सप्तमुखी तथा एकादशमुखी हनुमत्कवचों का विधान है।

वाह्य-पूजा तथा वाचिक-पाठ की अपेक्षा मानसिक पूजा और मानस-जप को दोनों देवताओं की पूजा में विशेष महत्त्व दिया गया है। यदि साधक लक्ष्य विशेष को लेकर किसी मन्त्र विशेष का निश्चित संख्या में वाचिक-जाप करता है, तो अनुष्ठान की समाप्ति पर मन्त्र संख्या के दशांश का हवन करना भी आवश्यक है। मानस-जप का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह अपरिमित होता है तथा इसके लिए किसी भी प्रकार के यज्ञ-हवनादि की आवश्यकता नहीं है।

'हनुमान चालीसा', 'हनुमान बाहुक', 'बजरंग बाण' आदि के माध्यम से विशेष कार्य की सिद्धि के निमित्त हनुमान की उपासना में वृद्धि-पाठ का भी विधान है। इस प्रकार का साधक प्रथम दिन एक पाठ करता है, दूसरे दिन दो पाठ तथा इसी क्रम से नित्य प्रति एक-एक पाठ बढ़ाता रहता है। यह अनुष्ठान ११, २१, ३१ या ४१ दिन तक किया जाता है।[3] अन्तिम दिन पाठों की संख्या दिनों की संख्या के बराबर हो जाती है। उसी दिन साधक को हवन करके यथाशक्ति ब्रह्म-भोज करना चाहिए। यद्यपि राम अथवा हनुमान ही नहीं प्रायः सभी देवताओं से सम्बद्ध अनुष्ठानों में साधक के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य तथा संयम की आवश्यकता है तथापि हनुमान के उपासक के लिए नियम-पालन में लेशमात्र की शिथिलता भी क्षम्य नहीं है। साधक को चाहिए कि भूमि पर शयन करे। धोबी द्वारा प्रक्षालित वस्त्रों को न पहने। क्षौर-कर्म न करे तथा बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की शुद्धियों के लिए सचेष्ट रहे।

---

१. वही, पृष्ठ ४८८

२. के० सी० आर्यन—हनुमान इन आर्ट एण्ड मिथॉलॉजी, ग्रन्थारम्भ में लिखित।

३. संग्रहकर्ता—रामनारायण शर्मा, भक्त शिरोमणि श्री हनुमान, पृष्ठ २०

यद्यपि सामान्य उपासक के लिए अनुष्ठान के विशेष नियमों का पूर्णतया पालन करना अपेक्षित नहीं है तथापि हनुमान के उपासक के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नितान्त आवश्यक है। सभी हनुमान मन्दिरों के पुजारी ब्रह्मचर्य व्रतधारी होते हैं। आगरे में प्रस्तुत लेखक की भेंट एक मूर्तिकार से हुई थी। अन्यान्य मूर्तियाँ देखने के उपरान्त जब उससे हनुमान की मूर्ति के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया, तो मूर्तिकार का उत्तर था— "हनुमान जी की मूर्ति को निर्माण करनो हर काक के बस की बात ना है। जाके ताईं परम आवश्यक है कि वा अवधी में मूर्तिकार ब्रह्मचर्य और संयम ते रहे। एक मूर्ति बनाने वालो इन नियमन को पालन ना करतो हुतो या कारन ते मूर्ति बनावते समय वाकी आँख में पत्थर की किर्च गिरत भई, सो वह कानो हुँ गयो। ऐसो ही एक दूसरो मूर्तिकार इन नियमन को पालन ना करिबो के कारन बहुत दुःखी भयो। वा मूर्तिकार की छैनी छिटक के वाके पैर में लगत भई और वो जख्मी हुँ गयो। वाऊ जी! याही कारन ते हौं हनुमान जी की मूर्ति नाय बनावों।"

हनुमान के नियमित उपासक के लिए भी इसी प्रकार के सिद्धान्त अपेक्षित हैं। संयम के अभाव में उसका मानसिक रूप से विकृत हो जाना बहुत सम्भव है। स्त्रियों को अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रतधारी आंजनेय के शरीर का स्पर्श करने का भी अधिकार नहीं है। रामोपासना में ब्रह्मचर्यादि का दृढ़ता से पालन करना अपेक्षित है, अनिवार्य नहीं। राम की पूजा प्रायः युगल स्वरूप में लक्ष्मण तथा हनुमान सहित होती है। इनकी पूजा का अधिकार बाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, ब्रह्मचारी-गृहस्थ सभी को समान रूप से है।

हनुमान के भक्त का उनके (हनुमान के) इष्टदेव भगवान् राम तथा जगज्जननी भगवती सीता के प्रति श्रद्धावान् होना आवश्यक है। प्रौढ़ भक्तगण हनुमान-मन्दिर में इनकी प्रतिमा के हृदयस्थ सीता-राम के युगलस्वरूप का ध्यान करते हुए उनकी भी स्तुति करते हैं। वैसे स्थूल रूप से हनुमान की पूजा तथा इनके प्रति किये जाने वाले अनुष्ठान में राम-पूजा का कोई विधान नहीं है। जबकि श्री राम की पूजा तथा उनके निमित्त किये जाने वाले अनुष्ठान में उनके भक्त हनुमान की भी पूजा का नियम है। रामायण के अखण्ड पाठ अथवा किसी अन्य प्रकार से होने वाली राम-कथा में हनुमान के लिए सिंहासन पर अथवा उसके समीप आसन की व्यवस्था परमावश्यक है। क्योंकि—

यत्र-यत्र रघुनाथकीर्तनं,
तत्र-तत्र कृतमस्तकांजलिम्।
वाष्पवारि परिपूर्णलोचनं,
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥[1]

१. कल्याण, 'श्री हनुमान विशेषांक' के अन्तर्गत शिवनाथ दुबे के लेख 'श्री हनुमान—चरित', पृष्ठ ३६६ से उद्धृत।

"जहाँ-जहाँ भगवान् राम (के गुण, यश, कथा, सौन्दर्य आदि) की चर्चा होती है, वहाँ-वहाँ हनुमान (श्रद्धा से) अंजलीबद्ध किये हुए हाथों को मस्तक से लगाकर तथा नेत्रों में (प्रेम के) आँसुओं को धारण किए हुए उपस्थित रहते हैं। राक्षसों के लिए कालस्वरूप उनको प्रणाम करना चाहिए।" ऐसे भक्त-राज के लिए आसन की व्यवस्था न करने से साधक के पुण्यों का क्षय होता है।

हिन्दू-संस्कृति में शौर्य, पराक्रम तथा शत्रु-संहारक रूप में शक्ति तथा हनुमान, ये दो ही प्रधान देवता हैं। शक्ति की उपासना में आज तक भी मांस-मदिरा का प्रभाव बना हुआ है। 'मार्कण्डेय पुराण' में देवी के द्वारा राक्षसों के भक्षण[1] तथा मदिरा-पान[2] के स्पष्ट उल्लेख हैं। दूसरी ओर हनुमान रौद्र कर्मों के विधायक होकर भी सर्वथा सात्त्विक-वृत्ति का पालन करने वाले हैं। आंजनेय की पूजा में श्रीराम की पूजा के समान ही मांस-मदिरा आदि का प्रयोग वर्जित है। राम-भक्तों के समान ही इनके भक्तों का विशुद्ध शाकाहारी तथा सत्त्वगुणी स्वभाव का होना आवश्यक है।

अन्त में यह उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि हमने कुछ महात्माओं को ऐसा कहते सुना है कि प्रातःकाल हनुमान की उपासना नहीं करनी चाहिए। उनका तर्क है कि उस समय आंजनेय अपने इष्टदेव की सेवा में रहते हैं और भक्तों द्वारा किये जाने वाले नाम-जप से उनके सेवाकार्य में व्यवधान आता है। कुछ महानुभावों का कथन है कि रात्रि में अपने प्रभु की सेवा में व्यस्त रहने के कारण हनुमान प्रातःकाल देर तक सोते रहते हैं, जिसके फलस्वरूप वे उस समय अपने भक्तों की पूजा को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। इसी प्रकार का एक तर्क 'मानस' की वह पंक्ति भी है, जिसमें केसरीनन्दन विभीषण से कहते हैं कि—

"प्रात लेइ जो नाम हमारा।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥"[3]

१. मार्कण्डेय पुराण, देवीमाहात्म्य, ८८/५५ तथा ८१/४८
"भक्षयन्ती चर रणे तदुत्पन्नान्महासुरान्।
एवमेव क्षयं दैत्यः क्षीणरक्तो गमिष्यति॥"
तथा— "भक्षयन्त्याश्च तानुग्रान्वैप्रचित्तान्महासुरान्।
रक्ता दन्ता भविष्यन्ति दाडिमी कुसुमोपमा॥"

२. वही, ८३/३८,
"गर्ज-गर्ज क्षणं मूढ! मधु यावत्पिबाम्यहम्।
मया त्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवताः॥"

३. तुलसी—मानस, ५/६/४

जहाँ तक प्रथम दोनों तर्कों का प्रश्न है, वे इसलिये महत्त्वहीन हैं कि हनुमान देवाधिदेव हैं। वे एक ही समय में अनेक रूप धारण करने में समर्थ हैं। इस प्रकार एक ही काल में श्रीराम की सेवा करना, जहाँ-जहाँ राम-कथा हो रही हो, वहाँ-वहाँ उपस्थित रहना तथा अपने अनन्य भक्तों की सेवा को ग्रहण करना, इनके लिये सहज कार्य है। तीसरे तर्क के रूप में विभीषण के प्रति मारुति के कथन में श्रीराम की भक्त-वत्सलता, राक्षस-कुलोत्पन्न विभीषण की हीनता ग्रन्थियों को समाप्त करने तथा अपने आदर्श विनय-भाव को व्यञ्जना है। पूरे प्रसंग को पढ़ने के पश्चात् प्रातः काल इनका नाम न लेने का तात्पर्य स्वयमेव समाप्त हो जाता है। पुनश्च "कह हनुमंत विपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥"[1] के सिद्धान्त के मानने वाले हनुमान को किसी भी स्थिति में अपने भक्तों का भक्ति से विरत होना अभीष्ट नहीं हो सकता।

साक्षात् सेवा-विग्रह हनुमान के प्रति सेनापति ने ठीक ही कहा है—'सेवा ही केवल सेवा आपनी कराई।'[2] आंजनेय राम की सेवा के बल से पूज्य हुए हैं और भक्तों द्वारा की जाने वाली इनकी उपासना-पद्धति पर भी श्रीराम की पूजा-पद्धति का पर्याप्त प्रभाव है।

(३) स्वरूप की दृष्टि से

(क) आराध्य के स्वरूप की दृष्टि से

स्वरूप की दृष्टि से भगवान् राम तथा हनुमान में पर्याप्त भिन्नता है। श्रीराम के अंग-प्रत्यंग में माधुर्य तथा लावण्य का अतिरेक है। वे मानव-रूपधारी होकर भी 'कंदर्प-अगनित-अमित-छबि' से देदीप्यमान हैं। उनके चरित्र में शील, शक्ति तथा सौन्दर्य का उचित समावेश होने पर भी शील की प्रधानता है। दूसरी ओर हनुमान के स्वरूप में ओजगुण की प्रधानता तथा शक्ति और शौर्य का सर्वाधिक योगदान है। आंजनेय के चरित्र में शील का स्थान शौर्य से गौण तथा सौन्दर्य का उससे भी गौण हो गया है। श्रीराम की ही नहीं सभी भारतीय देवताओं की तुलना में शक्ति के प्रतीक रूप में हनुमान का स्वरूप सर्वोपरि है। साधकों की ध्यान-स्थिति के लिए मारुति के स्वरूप का चित्रण करते हुए 'नारदीय पुराण' में उल्लेख है—

आंजनेयं पाटलास्यं
स्वर्णाद्रिसम विग्रहम्।
पारिजातद्रुममूलस्थं
चिन्तयेत् साधकोत्तमः॥[4]

---

१. वही, ५/३१/२
२. सेनापति—'कवित्त-रत्नाकर', ४/६९
३. तुलसी—'विनयपत्रिका', छन्द ४५
४. नारदीय पुराण, पूर्व खण्ड, ७५/१०२

"उत्तम साधक को चाहिए कि वह हनुमान के उस स्वरूप का ध्यान करे, जिसमें वे कल्प-वृक्ष के नीचे बैठे हुए गुलाब पुष्प सदृश मुखच्छवि वाले तथा स्वर्ण-पर्वत के समान विशाल शरीर वाले हैं।"

तुलसी के अनुसार आंजनेय के स्वरूप का चित्रण इस प्रकार है—

"स्वर्न-सैल-संकास कोटि,
रवि-तरुन-तेज-घन।
उर बिसाल, भुजदंड चंड,
नख बज्र, बज्र-तन॥
पिंग नयन, भृकुटी कराल,
रसना-दसनानन।
कपिस केस, करकस लँगूर,
खल-दल-बल भानन॥
कह तुलसिदास बस जासु उर,
मारुत-सुत-मूरति बिकट।
संताप-पाप तेहि पुरुष पहँ,
सपनेहु नहि आवहि निकट॥१"

वे प्रायः वानर रूप में रहते हैं।२ इस प्रसंग में तुलसी का बहुत ही मार्मिक तर्क है—

"जेहि सरीर रति राम सों,
सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेह-बस,
बानर भे हनुमान॥३

अनेक स्थलों पर इनके मानव रूप में भी दर्शन होते हैं। यथा—ऋष्यमूक पर्वत पर श्रीराम से प्रथम भेंट के अवसर पर—"विप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ।"४ इसी प्रकार नन्दीग्राम स्थित भरत को श्रीराम के आगमन का सन्देश देने के लिए—"विप्र रूप धरि पवनसुत, आइ गयउ जनु पोत।"५ 'अध्यात्म रामायण' में भी भरत को संदेश देते हुए इनके मानव-शरीर धारण करने का उल्लेख है।६ आंजनेय के स्वरूप परिवर्तन में सूक्ष्म रूप, विकट रूप तथा भीम रूप धारण करने के प्रसंग भी अनेक हैं—

"सूक्ष्म रूप धरि सियहि दिखावा।
विकट रूप धरि लंक जरावा॥
भीम रूप धरि असुर सँहारे।
रामचन्द्र के काज सँवारे॥"७

मुखों की संख्या के आधार पर हनुमान के

१. तुलसी-हनुमान बाहुक, छन्द २
२. महाभारत, वन पर्व, १४६/८८—"वयं धर्मं न जानीमस्तिर्यग्योनिमुपाश्रिताः।"
३. तुलसी—दोहावली, दोहा सं० १४२
४. तुलसी—रामचरित मानस, ४/०/३
५. वही, ७/१ (क)
६. अध्यात्म रामायण, ६/१४/४४-४५
७. तुलसी—हनुमान चालीसा, पंक्ति ९ तथा १०

चार स्वरूप हैं—एकमुखी, पंचमुखी, सप्तमुखी तथा एकादशमुखी। इन सभी में पंचमुखी हनुमान के स्वरूप की प्रधानता है, क्योंकि शिव मूर्तियों में भी उनका (शिव का) पंचमुखी स्वरूप ही प्रधान है। आंजनेय के इन पाँच मुखों में वानर-मुख पूर्व दिशा की ओर, नृसिंह मुख दक्षिण दिशा की ओर, गरुड़मुख पश्चिम दिशा की ओर, वराहमुख उत्तर दिशा की ओर तथा हयवदन आकाशाभिमुख है। मान कवि ने मारुति के इस स्वरूप का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है—

"पूरब विकट मुख मर्कट को उद्भट,
दच्छिन नृसिंह उद्यतेज भरामर को।
चीन पच्छ रच्छ पच्छराज तुंड पच्छिम को
उत्तर बराह अवगाह कमनर को॥
भनै कवि मान उर्द्ध हुवर तुरंग रंग
चीत अंग भंग करो दानव निकर को।
शुद्ध अवधूत संभु रूप मजबूत
पंचवदन सपूत वंदौ दूत रघुबर को॥"१

अधिकांश मंदिरों में महावीर हनुमान की एकमुखी प्रतिमाओं की ही स्थापना है। दारागंज (इलाहाबाद), उज्जैन में 'बड़े गणेश' के समीप, कलकत्ता में नवाब लेन पर पंचमुखी हनुमान की भव्यमूर्तियाँ भी दर्शनीया हैं। इन सभी मूर्तियों में हनुमान की दस भुजायें हैं, जिनमें वे गदा, तलवार, त्रिशूल, ढाल, कटार आदि धारण किये हुए हैं। प्रस्तुत लेखक को किसी भी मंदिर में हनुमान की सप्तमुखी तथा एकादशमुखी मूर्तियों को देखने का सौभाग्य नहीं मिला है। सप्तमुखी हनुमत्कवच तथा एकादशमुखी हनुमत्कवच के अन्तर्गत आंजनेय के इन स्वरूपों का विशद विवरण है।

स्थूल रूप से हनुमान के दो स्वरूप हैं—भक्ति के आलम्बन रूप में तथा स्वयं भगवान राम के सेवक रूप में। उपर्युक्त विवरण में भक्ति के आलम्बन रूप में इनके स्वरूप का पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। दूसरे रूप में भी श्रद्धालु भक्तों ने अपनी रुचि के अनुसार हनुमच्चरित्र में अनेक प्रकार की उद्भावनायें की हैं। "वे सखी-भाव के उपासकों के बीच 'चारुशीला सखी' के रूप में मान्य हैं। हनुमान जी के इस सखी भाव के भी दो रूप शृंगारी भक्तों में माने गये हैं। चारुशीला के रूप में भगवान राघवेन्द्र की ओर से 'श्री प्रसादा' के रूप में श्री जनकनन्दिनी की ओर से वे सीताराम के युगल-स्वरूप की सेवा में विद्यमान रहते हैं। सख्य-भाव के भक्तों के बीच भी हनुमान का एक विशिष्ट रूप माना गया है। उन्हें 'चारु शीलामणि' नाम से भगवान राम का प्रधान सखा और यूथपति कहा गया है।"२

१. मान—हनुमान पचीसी, छन्द २३
२. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पंचम भाग, पृष्ठ ३६७

(ख) भक्ति के स्वरूप की दृष्टि से

राम-भक्ति में परा तथा अपरा दोनों प्रकार की भक्तियों का प्रतिपादन है। इस भक्ति से प्रभावित होने के कारण हनुमद्-भक्ति में भी इन दोनों भक्तियों का समावेश है। इस दृष्टि से दोनों भक्तियों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि हनुमद्भक्ति का अधिक झुकाव अपराभक्ति की ओर है, जबकि रामभक्ति में पराभक्ति की प्रधानता है। तुलसी साहित्य में रामभक्ति के साथ ही आनुषंगिक रूप से हनुमद्भक्ति का भी उचित समावेश है। गोस्वामी जी की रचनाओं में इन दोनों ही देवताओं के प्रति परा तथा अपरा दोनों प्रकार की भक्तियों का सामञ्जस्य है। तुलसी की श्रीराम के प्रति पराभक्ति का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"ब्रह्म तू, हौं जीव,
तुही ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा,
तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहि मोहि नाते अनेक,
मानिये जो भावै।
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु!
चरन-सरन पावै॥"१

हनुमान के प्रति भी कवि के इसी प्रकार के उद्गार द्रष्टव्य हैं—

"अंसु तू, हौं अनुकर, अंग तू,
हौं निज सो, न बूझिए बिलंब,
अवलंब मेरे तेरिए।"२

जहाँ तक तुलसी की अपरा भक्ति का प्रश्न है, 'हनुमान बाहुक' के छन्द सं० ३७ से ४२ तक श्रीराम के प्रति तथा शेष प्रायः सभी छन्दों में आंजनेय के प्रति इसी प्रकार की भक्ति है। अन्य हनुमद्भक्त कवियों ने आंजनेय से रोग-निवारण३, बन्धन से मुक्ति४, शत्रुओं पर विजय५, भूतादि से रक्षा६, सकल कार्य सिद्धि७ आदि भौतिक सुखों के लिए ही निवेदन किया है। कुछ गिनी-चुनी पंक्तियों में परा-भक्ति की गंधमात्र अवश्य है।८

हनुमान-पूजा के दो रूप हैं—साधन रूप में

१. तुलसी—विनय पत्रिका, छन्द ७९
२. तुलसी—हनुमान बाहुक, छन्द ३४
३. ज्ञानदास—रसांकुश
४. तुलसी—हनुमान साठिका
५. छत्रलाल—हनुमद् विनय
६. गणेश—हनुमत पचीसी, छन्द २६ [रचना में कुल २७ छन्द हैं]
७. भोलानाथदास—हनुमान अष्टक, सभी छन्दों की अन्तिम पंक्ति—
"दीन दयाल बली बजरंग को, करौ सब सिद्ध मनोरथ मेरे।"
८. रामानन्द—हनुमान लला की आरती, पंक्ति ११—
"जो हनुमान जी की आरति गावै, बसि बैकुण्ठ परम पद पावै।"

तथा साध्य रूप में। साधन रूप में मारुति श्रीराम की प्राप्ति के माध्यम हैं। सामान्य भक्त की श्रीराम जैसे भक्ति के समर्थ आलंबन तक पहुँच होनी सरल नहीं है। तुलसी जैसे महान् संत को भी राम-भक्ति का प्रसाद पाने के लिये हनुमान के सहयोग की आवश्यकता पड़ी थी। श्रीराम के अनन्य सेवक होने के कारण हनुमान की उनके पार्षदों में महत्वपूर्ण स्थिति है। तुलसी की 'विनय-पत्रिका' को श्रीराम द्वारा स्वीकृत कराने में मारुति की महत्वपूर्ण भूमिका है।[1] आदर्श सेवक होने के कारण हनुमान अन्य राम सेवकों के प्रेरणा-दायक हैं।

साध्य रूप में हनुमान स्वयं परब्रह्म हैं। वे भक्ति के समर्थ आलम्बन हैं। सभी प्रकार के कष्टों को दूर करके ऋद्धि-सिद्धि के प्रदाता तथा आशुतोष होने के कारण हनुमान के भक्तों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है।

निष्कर्ष

हनुमान की प्रतिष्ठा तथा उनका देवत्व सभी कुछ श्रीराम पर अवलम्बित है। वे तो ऐसे आदर्श सेवक हैं कि उन्होंने तो "राम को भजन ही को सौंप्यो मौंप्यो आपनो।"[2] सम्भवतः राम की अपनी इच्छा के फल-स्वरूप ही हनुमान के चरित्र तथा देवत्व में सतत विकास होता रहा है। इनकी पूजा-विधि पर राम-भक्ति का प्रत्यक्ष प्रभाव होने के उपरान्त भी आंजनेय के स्वभाव तथा पराक्रमी कृत्यों के आधार पर भक्तों ने अपनी अर्चना-पद्धति में पूर्वोक्त विवरण के अनुसार अनेक परिवर्तन कर लिये हैं। उल्लेखनीय है कि 'मूर्ति-कला में ईसवी ७०० के लगभग बीरभाव में श्री हनुमान की विशाल प्रतिमायें बननी प्रारम्भ हुईं'। उनके मन्दिरों का भी निर्माण पूर्व मध्यकाल से होने लगा।"[3]

यह सब भक्तों की रुचि का ही प्रतिफल है कि इस युग तक पहुँचते-पहुँचते हनुमान की भक्ति अन्य देवताओं से ही क्या स्वयं राम से भी अधिक शक्तिशाली बन गई है। यद्यपि हमारा कल्याण इसी में है कि हम सेवक तथा स्वामी को छोटा-बड़ा सिद्ध करने का प्रयास न करें तथापि "बड़े राम ते राम सनेही"[4] की उक्ति प्रसिद्ध है और हनुमान इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

---

१. तुलसी—विनय पत्रिका, छन्द १३६
२. सेनापति—कवित्त-रत्नाकर, ४/५६
३. कल्याण—'श्री हनुमान विशेषांक' में डॉ० श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का लेख, 'मूर्ति-कला में श्री हनुमान का संकट-मोचन रूप', पृष्ठ ४२७
४. हृदयराम—हनुमान्नाटक, १३/८२

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

कस्य दोषः कुले नास्ति व्याधिना कः न पीडितः ।
व्यसनं केन न प्राप्तं कस्य सौख्यं निरन्तरम् ॥

दोष किस कुल में नहीं है, व्याधि से कौन पीड़ित नहीं होता है, दुःख किसे नहीं मिलता, किस को सदा सुख ही सुख मिला है ? अर्थात् किसी को भी नहीं।

× × × ×

आचारः कुलमाख्याति देशमाख्याति भाषणम् ।
सम्भ्रमः स्नेहमाख्याति वपुराख्याति भोजनम् ॥

कुल का पता आचार से, देश का पता बोली से, प्रेम का पता आदर से तथा शरीर का पता भोजन से चलता है।

× × × ×

सत्कुले योजयेत् कन्यां पुत्रं विद्यासु योजयेत् ।
व्यसने योजयेच्छत्रुं मित्रं धर्मे नियोजयेत् ॥

कन्या को ऊँचे कुल में देना चाहिये, पुत्र को विद्याभ्यास में लगाना चाहिये, शत्रु को व्यसन में फँसाना चाहिये तथा मित्र को धर्म कार्य में लगाना चाहिये।

× × × ×

दुर्जनेषु च सर्पेषु वरं सर्पो न दुर्जनः ।
सर्पोंदशति कालेन दुर्जनस्तु पदे पदे ॥

दुर्जन और साँप—इनमें साँप दुर्जन से अच्छा है, साँप काल आने पर काटता है, परन्तु दुर्जन तो पग-पग पर काटता है।

× × × ×

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम् ।
आदि मध्यावसानेषु न त्यजन्ति न ते नृपम् ॥

राजा लोग कुलीनों को इस कारण अपने पास रखते हैं कि वे आदि, मध्य और अन्त तीनों समयों में (किसी भी आपत्ति में) राजा को नहीं छोड़ते।

प्रलये भिन्न मर्यादा भवन्ति किल सागराः ।
सागराः भेदमिच्छन्ति प्रलयेऽपि न साधवाः ॥

प्रलय के समय में सागर तो अपनी मर्यादा भङ्ग कर देता है और भेद की इच्छा रखता है, परन्तु साधु लोग प्रलयकाल में भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ते।

× × × ×

मूर्खस्तुपरिहर्तव्यः प्रत्यक्षो द्विपदः पशुः ।
भिनत्ति वाक्यशूलेन अदृश्यं कण्टकं यथा ॥

मूर्ख से दूर रहना ही उचित है क्योंकि (मूर्ख) दो पैरों वाला प्रत्यक्ष पशु है। उसमें कांटे तो दिखाई नहीं देते, हाँ वाणी के कांटे चुभाता रहता है।

× × × ×

रूप यौवन सम्पन्नाः विशाल कुल सम्भवाः ।
विद्या हीनाग शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥

रूप और यौवन से युक्त भी बड़े कुल में उत्पन्न हुआ भी विद्याविहीन मनुष्य बिना सुगन्ध वाले टेसू के फूल के समान शोभा नहीं पाता।

× × × ×

कोकिलानां स्वरो रूपं नारी रूपं पातिव्रतम् ।
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥

कोयल का सौन्दर्य उसका स्वर है, स्त्री का सौन्दर्य उसका पतिव्रत धर्म है, कुरूपों का सौन्दर्य विद्या, तपस्वियों का सौन्दर्य क्षमा है।

× + + +

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामम् जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत् ॥

कुल की रक्षा के लिये, एक को, ग्राम की रक्षा के लिये कुल को, देश की रक्षा के लिये ग्राम को और आत्म-रक्षा के लिये पृथ्वी तक को त्याग देना उचित है।

× + + +

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम् ।
मौनेन कलहो नास्ति नास्ति जागरतो भयम् ॥

उद्योग करने पर दरिद्रता नहीं रह सकती, भजन करने वाले को पाप नहीं होता, चुप रहने से झगड़ा नहीं बढ़ता और जागते हुये के पास भय नहीं रह सकता।

—चाणक्य नीति

योगावतार

श्री नन्दकिशोर, कनकपुर वाराणसी

मंगल मय हो उठा धरा का पुलकित कोना कोना।
पाया रत्न अलौकिक आया मोहन सुन्दर सलोना ॥
धन्य पिता श्री जग बल छाया धन्य धन्य वह माता।
जिनके आंचल का अमृत पी पला जगत का त्राता ॥

सर्वेश्वर अवतारी बन कर दिवस धन्य कर जाता।
पर्व विजय दशमी का फिर क्यों जोड़ न ले निज नाता ॥
चिदानन्द का अंश जीव जब फिरता तिमिर गहन में।
भ्रम वश भूल स्वयं बँध जाता निज निर्मित बन्धन में ॥

पाप-ताप से वसुन्धरा का जब आंचल जलता है।
और मनुज देवत्व त्यागकर पशुता में ढलता है ॥
अनाचार के ताण्डव से जब दिशा विकम्पित होती।
पग पग पर जब हार हार कर विकल मनुजता रोती ॥

अखिलेश्वर नवनीत हृदय स्वयमेव पिघलने लगता।
आर्द्र नयन हो उठते फिर सिंहासन हिलने लगता ॥
होता है योगावतार तब पाप ताप हरने को।
तम से ढके मनुज के पथ पर किरण-भास भरने को ॥

प्रभु रामलाल की दिव्य ज्योति से ज्योतित होकर बाती।
तूल सदृश गिरि पाप पुञ्ज को प्रति क्षण चली जलाती ॥
अवतारों से भार धरा का जब न उतर पाता है।
और सृष्टि में कलुष पंक जब शेष पड़ा रह जाता है ॥

होता है योगावतार जब जन-जन को अपनाकर।
कर जाता है ब्रह्म जीव को ध्यान-समाधि बताकर ॥
अहो भाग्य त्रिभुवनपति आये बन गुरुदेव हमारे।
कृपा कटाक्ष मात्र से जिनने पतित समूह उबारे ॥

गुरु तत्त्व

श्री रामकिशन

न गुरोरधिकंतत्वं
न गुरोरधिकं तपः ।
गुरुज्ञानात्परं तत्वं
तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

गुरु से अधिक तत्व नहीं है, न गुरु से अधिक तप है । गुरु के ज्ञान से परम तत्व का ज्ञान होता है । उन श्री गुरुदेव को नमस्कार है ।

गृणाति उपदिशति धर्ममिति गुरुः ।
गिरत्यज्ञानमिति गुरुः ॥
यद्वा गीर्यते स्तूयते देव-
गन्धर्वादिभिरिति गुरुः ॥

धर्म का जो उपदेश दे, अज्ञानरूपी तम का विनाश कर ज्ञानरूपी ज्योति से जो प्रकाश करे, देव, गन्धर्वादि से जो स्तुत हों, उन्हीं साक्षात् देव की संज्ञा गुरु है ।

प्रत्येक साधक को अनुभवी गुरु के शरण होकर अध्यात्म-साधना करनी चाहिये। भारतीय साधना में गुरु परम्परा और गुरुकुलों का बहुत ऊँचा स्थान है, क्योंकि गुरु बिना ज्ञान नहीं होता ! गुरु ही आँखें खोलकर, हाथ में मशाल लेकर विघ्नों से बचाकर शिष्य को लक्ष्य स्थान तक सुख से पहुँचाता है । गुरु और ईश्वर में कोई भेद नहीं, प्रत्युत शिष्य के लिये तो गुरु ईश्वर से भी बढ़कर है । यही गुरु तत्त्व है ।

असल में सद्गुरु सदैव भाग्य से ही मिलते हैं, फिर भी गुरु बहुत सावधानी से बनाना चाहिए । गुरु में इतने गुण तो अवश्य होने चाहिये :—

स्वभाव शुद्ध हो, जितेन्द्रिय हो, धन का लालच जिसे हो ही नहीं, वेद शास्त्रों का ज्ञाता हो, सत्य-तत्व को पा चुका हो, परोपकारी हो, दयालु हो नित्य जप-तपादि साधनों को स्वयं (चाहे लोक-संग्रहार्थ ही) करता हो, सत्यवादी, शान्ति प्रिय हो, योग विद्या में निपुण हो, जिसमें शिष्य के पाप नाश करने की शक्ति हो, जो भगवान का भक्त हो, स्त्रियों में अनासक्त हो, क्षमावान् हो, धैर्यशाली हो, चतुर हो, अल्पभाषी हो, प्रियभाषी हो, निष्कपट हो, निर्भय हो, पापों से बिलकुल परे हो, सदाचारी हो, सादगी से रहता हो, धर्मप्रेमी हो, जीव मात्र का सुहृद हो और शिष्य को पुत्र से बढ़कर प्यार करता हो

प्रत्येक सच्चा योगी एवं प्रत्येक सद्गुरु ज्ञान पूर्वक परमात्म योग के प्रकाश में विचरता है, उसके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु को न तो वह जानता है और न इच्छा करता है । वह जगत् के परस्पर विरोधी स्वरों को अपने कानों के समीप नहीं जाने देता, अपने अहङ्कार युक्त विचारों और अनुभूतियों को शान्त कर देता है और उस आभ्यन्तर प्रकाश की सहायता से संसार के कार्य करता है जो प्रकाश प्रत्येक वस्तु के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है । वह

यथार्थ मार्ग को ही देखता और ग्रहण करता है और यथार्थ बात ही कहता है। प्रेम रूप शक्ति को ग्रहण कर उसे सब लोगों को वितीर्ण करना ही उसका कार्य होता है; अतएव मनुष्य शरीर को वह अपने आपको सर्वतोभावेन अन्तरात्मा जनार्दन की सेवा में उत्सर्ग कर देने का एक सुन्दर अवसर समझता है। सद्गुरु और आन्तरिक ज्योति में कोई अन्तर नहीं है, इसलिये सद्गुरु या योगी बनना ही प्रत्येक कल्याणकामी पुरुष का ध्येय होना चाहिये। हम लोग विच्छिन्न व्यक्तियाँ नहीं हैं, अपितु एक ही शरीर के अङ्ग हैं, और यदि हममें से कोई एक भी प्रभु की पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करें तो वह सारा समष्टि शरीर ही ऊँचा उठा हुआ अनुभव करेगा। क्योंकि शरीर के एक अङ्ग में पीड़ा होने पर अन्य समस्त अङ्गों को उस पीड़ा का अनुभव होता है, अथवा एक अङ्ग के पूजित होने पर समस्त अङ्गों को प्रसन्नता होती है। इसलिये, यह जानकर कि दुःख से चरित्र की दृढ़ता होती है, हमको दुःख में भी आनन्दित होना चाहिये। एक अङ्ग की पुष्टि से सारा शरीर पुष्ट होता है और जगत् में उसकी क्षमता बढ़ती है, अतः त्याग और लोक सेवा योग का विशुद्धतम एवं सर्वोत्कृष्ट रूप है। "मैं उनके अन्दर रहता हूँ और मेरे अन्दर वे रहते हैं जिससे कि वे पूर्ण होकर 'एकमेवाद्वितीयम्' बन जाँय।"

प्रेम और विश्वास के बिना परमात्मा से मिलने की सारी आकांक्षाएँ, योग की सारी प्रतिक्रियाएं और उनके विविध प्रकार व्यर्थ एवं निष्फल हैं। प्रेम और विश्वास नवीन जीवन प्रदान करने वाले तथा पवित्र करने वाली महान् एवं अमोघ शक्ति है। 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' बनने की सतत् चेष्टा से ही मनुष्य के आध्यात्मिक शरीर अथवा आत्मा का विकास एवं अभिव्यक्ति होती है। हमारा आध्यात्मिक स्वरूप स्वयं पूर्ण होने पर भी सदा किसी ऐसे साधन की खोज में रहता है जिसके द्वारा वह मानव जाति की सेवा एवं सहायता कर सके और हमारे अन्दर सेवा और सहायता करने की जितनी योग्यता एवं क्षमता आती है उतनी ही मात्रा में ईश्वर हमारे द्वारा अपनी इच्छा और अभिसन्धि को पूर्ण करते हैं।

जगद्गुरु श्री शिव की कृपा से साधक को अपने अदृश्य सद्गुरु के दर्शन हृदय में ही होते हैं और उनके तेज के प्रकाश से, अन्तर में उनसे सम्बन्ध हो जाता है। श्री सद्गुरु योग की यथार्थ ब्रह्म-दीक्षा द्वारा साधक का दैवी प्रकृति के प्रवाह के साथ सम्बन्ध करा देते हैं। जिस प्रकाश की सहायता से श्री सद्गुरु साधक को विचारान्धकार से पार करके उसके इष्टदेव में उसे समर्पित और युक्त कर देते हैं। यह सद्गुरु की सहायता के बिना कदापि सम्भव नहीं है।

श्री शिव का सद्गुरु होना तो लोगों को विदित है, किन्तु श्री सद्गुरु का ज्ञान प्रायः आजकल एक प्रकार से लुप्त हो गया है। गुरु-गीता आदि में गुरु का वर्णन इस प्रकार आया है कि गुरु मिलते ही साधक को ज्ञान-चक्षु देकर अज्ञानान्धकार को दूर कर उसे अखण्ड-मण्डलाकार सर्व व्याप्त ब्रह्म का साक्षात्कार करा देते हैं, गुरु स्वयं त्रिमूर्ति और परब्रह्म के रूप हैं। कलियुग के आरम्भ होने पर राजा परीक्षित को शाप लगने के बाद शुकादि ऋषि उनके पास आये थे और फिर उसके बाद अनेकों ने यज्ञ में भी ये सब लोग पधारे थे। ऋषि और सिद्धगण प्रायः शरीर त्याग नहीं करते, वे तो अमर हैं। लिङ्ग पुराण के सातवें अध्याय में उन सद्गुरुओं का वर्णन योगाचार्य के रूप में आया है और उसमें उनके शिष्यों-प्रशिष्यों का भी उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि उन लोगों का वास-स्थान हिमालय और सुमेरु-पर्वत में सिद्धाश्रम नाम से पुकारा जाता है। वे सब सद्गुरु श्री शिव जी के शिष्य गुरु के समान हैं।

यदि शिव रुष्ट हो जावें तो गुरुदेव प्रसन्न कर सकते हैं और यदि किसी हेतु गुरु जी कुपित हो जावें तो उनको कोई भी प्रसन्न नहीं कर सकता। अतः उनको प्रसन्न रखनेसे हमारे सर्व कार्य सिद्ध हो जाते हैं और वे हमें वैकुण्ठ तक भेज सकते हैं।

साधक ब्राह्ममुहूर्त में उठकर रात का वस्त्र छोड़, शुद्ध वस्त्र पहनकर और सब तरह से शुद्ध होकर तथा स्वस्तिकासन करके शिरस्थ सहस्रदल-कमल कर्णिका में परम शिवरूप गुरुदेव का ध्यान करे। यथा—मूलाधार में चतुर्दल-कमल की कर्णिका पर स्थित जो स्वयंभूलिङ्ग है उसमें सार्द्ध-त्रिवलयाकार अचल विद्युत्कान्ति वाली, बिसतन्तु-सदृश सूक्ष्म इड़ा, पिंगला नाड़ी के मध्य स्थित जो सुषुम्ना नाड़ी है उसके मध्य में सुप्त की हुई कुण्डलिनी है। उसको 'हुंसः' मन्त्र से जगाकर फिर 'हंसः' मंत्र का जाप करे। फिर स्वाधिष्ठान चक्र तथा मणिपूरक चक्र का सुषुम्ना नाड़ी द्वारा भेदकर और अनाहत चक्र में जीवात्मा के साथ संयोग कर, फिर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा विशुद्ध-चक्र और आज्ञा-चक्र को भेदनकर शिरस्थ सहस्रदल-कमल कर्णिका में परम शिवरूप गुरुदेव से संयोग कराकर उन जीवात्मा, परम शिव और कुण्डलिनी इन तीनों को एक समझकर चन्द्र-मण्डल से स्रवित सुधारस पान से आनन्दोन्मत्त सदा शिवरूपी श्री गुरुदेव का ध्यान करना चाहिये। अपने मस्तक के बीच सहस्रदल-कमल में बैठे हुए अविनाशी, स्वच्छ स्फटिक मणि के सदृश कान्ति वाले, शरत्कालीन चन्द्रमा के समान मुख वाले, विकसित कमल के समान विशाल नेत्र वाले, श्वेत वस्त्र धारण करने वाले, श्वेत गन्ध तथा श्वेत पुष्प की माला को धारण

करने वाले, श्वेत-चन्दन धारण करने वाले, दोनों हाथों में 'वराभयमुद्रा' धारण करने वाले तथा वामाङ्ग में लाल कमल धारण किये हुए अपने तेज से प्रकाशित स्वशक्ति से युक्त होकर ज्ञान से प्रसन्न चित्त वाले अपने परम गुरुदेव को सदाशिव के साथ ऐक्य समझकर ध्यान करना चाहिये।

सद्गुरु प्रदर्शित प्रणाली का अवलम्बन कर दीर्घकाल तक अनवच्छन्न रूप से श्रद्धा और सत्कार के सहित योगक्रिया का अभ्यास करने पर चित्त शुद्ध होता है और क्रमशः संसार के निदानभूत समस्त क्लेशों का शमन होता है। चित्त की आत्यन्तिक शुद्धि का फल है, विवेक ख्याति और पुरुष की कैवल्य-सिद्धि। सत्वगुण की उच्च अवस्था प्राप्त होने पर योगी को नाना प्रकार की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। आत्मा वास्तव में ईश्वर-स्वरूप है—अविद्या के आवरण के कारण ईश्वर प्रकट नहीं हो पाता, परन्तु जब तीव्र योगाभ्यास के फलस्वरूप प्रज्ञा का उन्मेष होता है और अविद्या की निवृत्ति होती है—जिस समय सत्त्वगुण प्रबल होना आरम्भ करता है, उस समय उसका स्वाभाविक ऐश्वर्य अभिव्यक्त होता है। ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति से लेकर आत्म-स्वरूप में उपसंहृत होने तक ही आत्मा 'ईश्वर' कहा जाता है।

सद्गुरु शक्तिपात करके शिष्य के भ्रूमध्य और विशुद्धाख्य में स्पर्श कर प्रकाश का अनुभव कराते हैं। श्री गुरु ही स्पर्श दीक्षा और फिर दिव्यदीक्षा शिष्य को देते हैं। और दीक्षा पूरी होने पर एक क्षण में ही शिष्य की कुण्डलिनी जाग उठती है। इस कुण्डलिनी शक्ति के जाग उठने पर मूलाधार से सहस्रार-पर्यन्त शरीर प्रकाशमय हो जाता है। विद्युत रूप से कुण्डलिनी जब ऊपर जाने लगती है तब प्रकाश का साक्षात्कार होता है।

ये पूर्ण योगी निद्रा को जीते हुये सदा जागते रहते हैं और सोये हुये जगत् की रक्षा करते हैं। ये स्वस्वरूप में अवस्थित रहते हैं, ज्ञान ज्योति जिसे कहते हैं, वह इनके हृदयों में सदा देदीप्यमान रहती है और वहीं से अमोघ दैवी शक्ति का प्रचण्ड और अखण्ड प्रवाह निकलता है। निरोधाभ्यास से मुख्य कारण शक्ति उनके वश में होती है और इस कारण वे ब्रह्माण्ड को उलट-पलट सकते हैं। ईश्वर के समान ये गुप्त रहकर जगत्कार्य करते हैं। शक्ति के निक्षेप और सात्त्विक बीजारोपण के द्वारा वे अधिकारी शिष्यों के अन्तःकरण की कान्ति क्षण मात्र में बदल देते हैं और उनमें कर्तृत्व-शक्ति उत्पन्न कर देते हैं। ये लोग स्वतः सिद्ध होते हैं, इनके जीवात्मा स्वतन्त्र होते हैं। जीव कितने बड़े अधिकार का पद पा सकता है यह ये लोग अपने दृष्टान्त से बताया करते हैं। जगत और काल जिनके वश में होते हैं, जो अक्षर

अलख तत्व को पहुँचे हुये हैं, जो प्रशान्त गम्भीर निर्भय सत्ताधीश और श्रेष्ठ हैं जिनकी इच्छा शक्ति अजेय होती है जिनकी ज्ञान दृष्टि प्रमाद रहित और शुद्ध होती है, जो अन्तःकरण साम्राज्य के अधिपति होते हुये जगत् के नियन्ता हैं, सब शक्तियाँ जिनके अधीन और सब मन जिनके वश में होते हैं, जो ज्ञान (भक्ति) रूप और आनन्दरूप होकर ईश्वर के सखा बने रहते हैं, उनका राजतेज और वैभव देखकर जिसके हृदय में धीरज न बंधेगा और कृतज्ञता उदय न होगी ? किसके हृदय में उल्लास, निग्रह और भक्ति का स्त्रोत उमड़ न पड़ेगा। किसका हृदय उनके प्रति पूज्यता के भावों से गद्गद् न होगा ? किसको यह विश्वास न होगा कि इतना बड़ा अधिकार जीव को ईश्वर कृपा से प्राप्त हुआ करता है ? और हम भी वैसे बन सकते हैं, ऐसी आशा तथा वैसा बनने का यत्न करने की स्फूर्ति किसके मन में न उत्पन्न होगी ? पर ऐसे महापुरुषों को परखना सामान्य लोगों के लिये कठिन है। लोग उनके गुणों को पहिचान नहीं सकते और वे अपने गुण किसी को दिखाना नहीं चाहते। लोग तो चमत्कार देखना चाहते हैं, क्योंकि लोभ के वश में हैं और अपना मतलब निकालने की फिक्र में रहते हैं। ईश-सृष्टि में चमत्कार तो प्रतिक्षण हो रहे हैं और साधु-सन्त चमत्कार दिखावें, इसी को साधु-सन्त अपनी पत खोने का लक्षण मानते हैं। तथापि उनके नेत्रों से प्रकट होने वाले आध्यात्मिक चैतन्य के तेज से ही उन्हें जानकर उनको सदा पूजना चाहिये। उनकी सेवा करना गृहस्थों का कर्त्तव्य है, पर उनसे व्यावहारिक लाभ की इच्छा करना अनुचित है। उनकी प्रसन्नता से चाहे जो मिल सकता है, पर अपनी पात्रता न हो तो कुछ भी नहीं मिल सकता। वे किन जीवों के उद्धार के लिए अथवा जगत् के कल्याण के लिये कैसे क्या करते होंगे, इसकी थाह किसी को भी नहीं लग सकती। ईश्वरी कर्त्तव्य के समान यह बात भी संसार से सदा छिपी ही रहेगी।

इस विषय पर अपनी तरफ से कुछ भी लिखने की सामर्थ्य मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति में कहां ? मैंने तो परम् पूज्य सद्गुरुदेवजी की आज्ञानुसार स्वाध्याय के आधार पर अपनी साधारण बुद्धि के अनुसार उनके कृपा प्रसाद के आधार पर ही कुछ लिखा है।

❀ अहङ्कार ❀

जब तक व्यक्ति अहंकारयुक्त होता है, तब तक वह दुःख भोगने के लिए बाध्य है। और जब अहंकार नहीं रह जाता, तब कोई कष्ट नहीं होता। अतः उत्तम यह है कि बिना अहंकार के रहा जाए।

—योग वाशिष्ठ

जप-योग का विज्ञान

ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश

मनुष्य के मुख का जो अग्नि चक्र है वह स्थूल रूप से अन्न-पाचन का, सूक्ष्म रूप से वाणी के उच्चारण का और कारण रूप से चेतनात्मक दिव्य प्रवाह उत्पन्न करने का काम करता है। उसके तीनों काम एक से एक बढ़कर हैं। पाचन और उच्चारण की महत्ता सर्वविदित है लेकिन दिव्य प्रवाह संचार की बात योगीजन ही जानते हैं। जप योग का सारा विज्ञान इसी रहस्यमय सामर्थ्य के साथ सम्बद्ध है।

शब्द की प्रचण्ड शक्ति—

वाणी की शक्ति का जीवन के उत्कर्ष-अपकर्ष में कितना अधिक योगदान है, इसकी जानकारी किसी गूँगे तथा ओजस्वी वक्ता की स्थिति की तुलना करके देखने में मिल सकती है। सम्भाषण का आदान-प्रदान कितना प्रभावी है, इसका इसलिए पता नहीं चलता कि वह ढर्रा सहज अभ्यास में चलता रहता है और हम उससे कुछ विशेष निष्कर्ष नहीं निकाल पाते। यदि हम किसी मूक योनि के प्राणी रहे होते और बातचीत का आनन्द एवं लाभ लेने वाले मनुष्यों की सुविधा का लेखा-जोखा लेते तो पता चलता कि यह कितनी बड़ी उपलब्धि है।

शब्दों का उच्चारण मात्र जानकारी नहीं देता, वरन् उसके साथ अनेकानेक भाव अभिव्यञ्जनाएँ, सम्वेदनाएँ, प्रेरणाएँ एवं शक्तियाँ भी जुड़ी रहती हैं। यदि ऐसा न होता तो वाणी में मित्रता एवं शत्रुता उत्पन्न करने की सामर्थ्य न होती, दूसरों को उठाने गिराने में उसका उपयोग न हो पाता। कटु शब्द सुनकर क्रोध का आवेश चढ़ आता है और न कहने योग्य कहने तथा न करने योग्य करने की स्थिति बन जाती है। चिन्ता का समाचार सुनकर भूख-प्यास और नींद चली जाती है। शोक-समाचार सुनकर मनुष्य अर्द्ध मूर्छित—जैसा हो जाता है। तर्क, तथ्य, उत्साह एवं भावुकता भरा शब्द प्रवाह, देखते-देखते जन-समूह का विचार बदल देता है और उस उत्तेजना से सम्मोहित असंख्य मनुष्य कुशल वक्ता का अनुकरण करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

शब्द की आध्यात्मिक क्षमता—

इन तथ्यों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि वाणी का काम मात्र जानकारी देना भर नहीं है। शब्दों के प्रवाह के साथ-साथ उनके प्रभावोत्पादक चेतन तत्व जुड़े रहते हैं और वे ध्वनि कंपनों के साथ घुले-मिले रहकर जहाँ भी टकराते हैं, वहाँ चेतनात्मक हलचल उत्पन्न करते हैं। शब्द को पदार्थ विज्ञान की कसौटी पर भौतिक तरंग-स्पन्दन भर कहा जा सकता है पर उसकी चेतना को

प्रभावित करने वाली सम्वेदनात्मक क्षमता की भौतिक व्याख्या नहीं हो सकती वह तो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक है।

जप योग में शब्द शक्ति के इसी आध्यात्मिक प्रभाव को छानकर काम में लाया जाता है। नींबू का रस निचोड़ कर उसका छिलका एक ओर रख दिया जाता है। दूध में से घी निकालकर छाछ को महत्त्व हीन ठहरा दिया जाता है। जप योग में ऐसा ही होता है। उसके द्वारा ऐसी चेतना-शक्ति का उद्भव होता है, जो जप कर्त्ता के शरीर एवं मन में विचित्र प्रकार की हलचल उत्पन्न करती है और अनन्त आकाश में उड़कर विशिष्ट व्यक्तियों को, विशेष परिस्थितियों को तथा सम्पूर्ण वातावरण को प्रभावित करती है।

मन्त्र की सामर्थ्य —

हर मन्त्र में छः भाग होते हैं—(१) ऋषि, (२) छन्द, (३) देवता, (४) बीज, (५) शक्ति, और (६) कीलक। ऋषि उस मन्त्र का आविष्कारक है; पहली बार उसने ही सम्बन्धित मन्त्र से आत्म-ज्ञान पाया—जैसे गायत्री मन्त्र के ऋषि विश्वामित्र हैं। मन्त्र का एक देवता भी होता है। मन्त्र का बीज-मन्त्र को एक विशेष शक्ति प्रदान करता है अथवा यों कहिये कि हर मन्त्र की शक्ति होती है और अन्त में वह कीलक होता है। यह कीलक मानो मन्त्र के अन्दर छिपी शक्ति स्रोत (बन्द) किये रहता है। बार-बार के जप से, लम्बे-लम्बे अनुष्ठानों से, निरन्तर नाम-जप करने से प्लग (कीलक) हट जाता है और साधक को अपने इष्ट का साक्षात्कार होता है।"

मन्त्रों का चयन ध्वनि-विज्ञान को आधार मानकर किया गया है। अर्थ का समावेश गौण है। वस्तुतः मन्त्र द्रष्टाओं की दृष्टि में शब्दों का गुम्फन ही महत्वपूर्ण रहा है। कितने ही बीज मन्त्र ऐसे हैं, जिनका खींच-तान कर ही कुछ अर्थ भले ही गढ़ा जाये, पर वस्तुतः उनका कुछ अर्थ है नहीं। ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ऐं, हुं, यं, फट् आदि शब्दों का क्या अर्थ हो सकता है, इस प्रश्न पर माथा-पच्ची करना बेकार है। उनका सृजन यह ध्यान में रखते हुए किया गया गया है कि उनका उच्चारण किस स्तर का शक्ति-कम्पन उत्पन्न करता है और उनका जपकर्ता, बाह्य वातावरण तथा अभीष्ट प्रयोजन पर क्या प्रभाव डालता है?

मानसिक, वाचिक एवं उपांशु जप में ध्वनियों के हल्के-भारी किये जाने की प्रक्रिया काम में लाई जाती है। वेद-मन्त्रों के साथ-साथ उदात्त-अनुदात्त और स्वरित क्रम से उनका उच्चारण नीचे-ऊँचे तथा मध्यवर्ती उतार-चढ़ाव के साथ किया जाता है। उनके सस्वर उच्चारण की परम्परा है। यह सब विधान इसी दृष्टि से बनाने पड़े हैं कि उन मन्त्रों का जप अभीष्ट उद्देश्य पूरा कर सकने वाला शक्ति-प्रवाह उत्पन्न कर सके।

मंत्र जप का दुहरा प्रभाव—

मंत्र जप की दुहरी प्रतिक्रिया होती है—एक भीतर, दूसरी बाहर। आग जहाँ जलती है, उस स्थान को गर्म करती है, साथ ही वायु-मण्डल में ऊष्मा बखेर कर अपने प्रभाव क्षेत्र को भी गर्मी देती है। जप का ध्वनि-प्रवाह, समुद्र की गहराई में चलने वाली जल-धाराओं की तरह तथा ऊपर आकाश में छितराई हुई उड़ने वाली हवा की परतों की तरह अपनी हलचलें उत्पन्न करता है। इसके कारण शरीर में यत्र-तत्र सन्निहित अनेक चक्रों तथा ग्रन्थियों में विशिष्ट स्तर का शक्ति-सञ्चार होता है। लगातार के एक नियमित क्रम से चलने वाली हलचल ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती है, जिसे रहस्यमय कहा जा सकता है। सैनिक को पैरों को मिलाकर पुलों पर चलने का इसलिए निषेध है कि उससे उत्पन्न क्रमबद्ध ध्वनि की साधारण सी क्रिया असाधारण प्रभाव उत्पन्न करती है, जिससे पुल टूट जा सकते है।

जप लगातार करना पड़ता है और एक ही क्रम से करना होता है। इस प्रक्रिया के परिणामों को विज्ञान की प्रयोगशाला में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। १ टन लोहे का भारी गार्डर किसी छत के बीचोंबीच लटका दिया जाय और उस पर मात्र पाँच ग्राम भारी कार्क से लगातार आघात लगाने प्रारम्भ कर दिये जायें तो कुछ ही समय में वह सारा गार्डर काँपने लगेगा। यह लगातार एक गति से—आघात क्रम से उत्पन्न होने वाली शक्ति का चमत्कार है। मन्त्र-जप यदि विधिवत् किया गया है तो उसका परिणाम भी यही होता है। सूक्ष्म शरीर में अवस्थित चक्रों और ग्रन्थियों को जप-ध्वनि का अनवरत प्रवाह अपने ढङ्ग से प्रभावित करता है और उत्पन्न हुई हलचल उसकी मूर्छा दूर करके जागृति का अभिनव दौर उत्पन्न करता है। ग्रन्थि-भेदन तथा चक्र जागरण का सत्य परिणाम जपकर्त्ता को प्राप्त होता है। जगे हुए ये दिव्य संस्थान साधक में आत्म-बल का नया सञ्चार करते हैं। उसे अपने भीतर जगा और उगा उत्साह प्रतीत होता है, जो पहले नहीं था। इस नवीन उपलब्धि के लाभ भी उसे प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

अर्थ पर ध्यान रखते हुए जप का महत्व

भगवान पतञ्जलिदेव ने योग-दर्शन के समाधि पाद में ईश्वर का नाम "तस्य वाचकः प्रणवः" (१–२७१) अर्थात् उस ईश्वर का नाम ओ३म् है। सम्बोधित करते हुए उस 'ओ३म्' का जप और उसके अर्थ पर भावना या ध्यान करना चाहिए—"तज्जपस्तदर्थं भावनम्" (१-२८)। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर के नाम का जप तथा उसके अर्थ पर भावना या ध्यान दोनों साथ-साथ चलना चाहिए। नाम जप के साधकों के लिए उसके अर्थ और भाव

पर लक्ष्य रखना आवश्यक है। बुद्धि तो निःसन्देह यही निर्णय देगी कि जहाँ तक हो सके सबको अर्थ पर दृष्टि रखते हुए ही नाम-जप करना चाहिए। परन्तु प्रश्न पेचीदा है। इस पर कुछ अधिक गौर करने की आवश्यकता है। कई ऐसे विश्वास के धनी हो गये हैं कि जिनकी यह मान्यता है कि चाहे जैसे भी हो भगवान का नाम लिये जाओ, जपे जाओ। नाम में स्वयं इतनी शक्ति है कि चाहे तुम उसके अर्थ पर दृष्टि रखो या न रखो, नाम अपना काम स्वयं कर लेगा। वे एक दृष्टान्त देकर अपनी बात को पुष्ट करते हैं। कहते हैं कि "पानी पीते ही प्यास बुझ जाती है—चाहे तुम जानो या न जानो कि पानी में कौन-कौनसे गुण हैं।" ऐसा मानने वालों की भावना और विश्वास ठीक है। न जपने की अपेक्षा किसी प्रकार भी नाम जपना बहुत ही लाभप्रद और कल्याणकारी है, परन्तु इस सिद्धान्त में एक बहुत बड़ी त्रुटि है जिसे प्रत्येक साधक को समझ लेना चाहिए। यदि साधक ऐसा मान बैठे हैं कि चाहे जैसे नाम जपते जाना चाहिए तो उनके आध्यात्मिक जीवन में एक अजीब शिथिलता और सुस्ती आ जायेगी। उसकी सारी शक्ति एक खानापूरी के रूप में हो जायेगी—बस एक बंधी-बंधाई प्रणाली तथा परिपाटी के भीतर उसकी साधना घुटती रहेगी। साधना में एक जीवित जाग्रत विश्वास तथा सक्रिय चेष्टा का अभाव हो जायेगा और रह जायेगा केवल एक निश्चेष्ट पुण्य कमाने का भाव, जिसमें ईश्वर की सारी शंकाओं पर पत्थर रखकर केवल पुण्य लूटने की लालसा मुख्य हो जाती है। संक्षेप में कहना चाहें तो हम यों कह सकते हैं कि ऐसी भावना का पोषण कर मनुष्य कुरीति का धर्म अंगीकार कर लेता है। एक सच्चे भक्त के लिए तो यह धारणा ही अपेक्षित है कि जिस नाम का जप कर रहा है वह भगवान का है—अतएव दिव्य है। इस धारणा से ही उसके भीतर ईश्वर-प्रेम की लहरें जाग उठेंगी और उसका चित्त प्रभु में लीन हो जायेगा। नाम-जप में मुख्य बात यह नहीं है कि आप भगवान के नाम अथवा मंत्र में तर्क की बारीक से बारीक खूबियां-सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव निकाल सकते हैं या नहीं। मुख्य बात तो आपके भाव की शुद्धता एवं सबलता है, जिससे कि आप नाम-जप के साथ भगवान का सम्बन्ध जोड़ सकें। नाम का वास्तविक अर्थ उसी ने समझा है, जिसकी नाम में श्रद्धा और प्रेम है, उसकी अमोघ एवं अतुलनीय दिव्य-शक्ति में विश्वास है। उसे उसकी व्याकरण सम्बन्धी तथा दार्शनिक सूक्ष्मताओं से परिचित होने की उतनी आवश्यकता नहीं।

भगवान के नाम का अमित प्रभाव है। परन्तु क्या बिना प्रेम भावना के नाम लेना वस्तुतः 'नाम लेना' कहा जायेगा। हृदय में प्रभु को पाने की भूख जगनी चाहिए, एक

स्वरूप होनी चाहिए। जीभ से तो राम-नाम रट रहे हैं, लेकिन मन इधर-उधर भाग रहा है—ऐसे नाम लेने से क्या लाभ ? शब्द तो आकाश का गुण है; शब्द का उच्चारण होते ही शब्द आकाश में विलीन हो जाता है। बिना भाव के शब्द उसी तरह निर्जीव है, जैसे बिना आत्मा के शरीर। इसलिये योग-दर्शन में शब्द के अर्थ तथा तदर्थ भावनम् पर जोर दिया गया है। किसी सन्त ने ठीक ही कहा है—

"भाव बिना बाजार में,
वस्तु मिले नहिं मोल।
भाव रहित हरि क्यों मिलें,
भाव सहित हरि बोल॥"

ओ३म् शब्द को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता में 'शब्द ब्रह्म' नाम से अभिव्यक्षित किया है। यह अव्यक्त तत्त्व का ही अर्थ के रूप में विवर्त है। अतः अव्यक्त शब्द ब्रह्म तक पहुंचने का मार्ग स्थूल शब्द ही है। जो मन्त्रात्मक है जिसके जप से साधक ब्रह्ममय हो जाता है। जप की परिभाषा भी यही है। "जपः तन्मयता रूप भावनं सम्यगरितम्।" तन्त्र शास्त्र में तन्मयता रूप जप की प्रक्रिया का अत्यन्त विस्तार है। महर्षि पतञ्जलि जी ने योग-विघ्नों को दूर करने के लिए तथा परमात्मा के अनुग्रह को प्राप्त करने के लिए मन्त्र श्रेष्ठ ओंकार के जप का विधान बताया है। गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा है— "यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि। अर्थात् यज्ञों में जप यज्ञ मैं हूं।" जप के द्वारा मन्त्र चैतन्य होकर कुण्डलिनी शक्ति की जागृति होती है। तदनन्तर मन्त्र देवता का रूप धारण करता है। मन्त्र योग का आश्रय सभी मतावलम्बियों को अभीष्ट है। क्योंकि परमात्मा के साक्षात्कार में मन्त्र ही प्रधान कारण है। शब्द का परम कारण ब्रह्म के साथ अभेद सम्बन्ध है। शब्द तत्त्व या जिसे शब्द-शक्ति कहते हैं, उसका ज्ञान या ज्ञान-शक्ति के साथ सहचर्य है। बिना शब्द-शक्ति के ज्ञान नहीं हो सकता, अर्थात् ज्ञान का व्यञ्जक शब्द है। जैसे शब्द का अर्थ से सम्बन्ध है वैसे ही ज्ञान से भी उसका सम्बन्ध है। शब्द के व्यक्त-अव्यक्त अथवा सूक्ष्म एवं स्थूल दो रूप होते हैं। जिसमें वर्णों की अभिव्यक्ति अव्यक्त है उसको ही शब्द कहा गया है। "अव्यक्तवर्णात्मकमेव शब्दः।" सन्त कबीर ने भी इसका वर्णन किया है—

शब्द शब्द बहु अन्तरा, वह तो शब्द विदेह।
जिह्वा पर आवै नहीं, निरख परख पर देह॥

पराशक्ति जब सृष्टि करने की इच्छा से अहं रूप से ब्रह्म का प्रकाशात्मक भाव तथा विषय का इदं भावसे विमर्शात्मक रूप धारण करके विषयी और विषय रूपको व्यक्त करती है, उसका हेतु शब्द ही माना जाता है। श्रुति स्मृति प्रमाणों से शब्द ही जगत का कारण माना जाता है। इस आदिम शब्द को परा वाणी कहते हैं। यह ब्रह्म की भाषा कही जाती है। मूलाधार से इसकी उत्पत्ति होती है। इसे योगी ही जान सकता है। ●

योग-दर्शन में--

-- अविद्या का स्वरूप

❀ ब्रह्मचारी श्री दासलाल शर्मा

जगत के कारण के विषय में विभिन्न दर्शन-शास्त्रों में अनेक मत हैं। वेदान्त शास्त्र के अनुसार ब्रह्म ही जगत का निमित्तोपादान कारण है। सांख्य-योग के अनुसार पुरुष और प्रकृति का संयोग ही जगत का कारण है। इस शरीर का भी आत्मा और बुद्धि का संयोग ही कारण है। यह संयोग पुरुष के भोगापवर्ग सम्पादन के लिए ही माना गया है। आधिभौतिक सृष्टि में जितने भी शरीर सञ्चलन हैं इन सबमें यह संयोग ही कारण है। अविद्या का जैसा स्वरूप-निरूपण योग दर्शन में हुआ है ऐसा स्पष्ट और व्यापक वर्णन किसी अन्य दर्शन में देखने को नहीं मिलता है। अन्य सभी दर्शनों में अविद्या के इस स्वरूप को मुक्त कण्ठ से सम्मान्यता प्राप्त है। योग-दर्शन के समस्त सूत्र इस अविद्या सूत्र रूपी नाभि के चारों ओर घूमते हैं।

अविद्या शब्द अनेक ग्रन्थों में अनेक नामों से प्रयुक्त हुआ है। कहीं पर माया, प्रकृति तथा कहीं पर तम और मोह इत्यादि अनेक शब्दों से व्यवहृत हुआ है।

योग-दर्शन के साधनपाद में अविद्या का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है:—

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य-शुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।"

आगे इसी के क्रम से व्याख्या की गई है। अनित्य पदार्थों में नित्य बुद्धि रखना पहली प्रकार की अविद्या है। उदाहरण देकर समझाया गया है कि पृथ्वी, चन्द्रमा तथा तारे इत्यादि अनित्य पदार्थों को नित्य मानना अविद्या है। इसी प्रकार से देवतागण, स्वर्ग-लोकादि नित्य हैं ऐसा मानना भी अविद्या का प्रथम रूप है। अविद्या का दूसरा रूप बतलाते हुये कहा है कि अशुचि पदार्थों में शुचि ख्याति रखना दूसरे प्रकार की अविद्या है। उदाहरण में बताया गया है कि शरीरादि अशुचि पदार्थों में शुचि का भान होना अविद्या है। शरीर अशुद्ध या अपवित्र कैसे है? व्यास-भाष्य में एक श्लोक से इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है।

"स्थानाद्बीजादुपष्टम्भादिः स्यन्दा-निधनादपि कायमाधेय शौचत्वात्पण्डिता ह्यशुद्धि विदुः ।"

अर्थात् मल-मूत्र युक्त माता के उदर से उत्पन्न होने से, रज वीर्य के संयोग द्वारा उत्पत्ति होने से, माता द्वारा खाये गये अन्न इत्यादि के द्वारा इसका पोषण होने से, निरन्तर नव द्वारों से मलों का बहते रहने से मरणधर्मा होने से, स्नानादि शुद्धि की सदैव अपेक्षा होने के कारण विद्वानों ने इस शरीर को अपवित्र माना है। इस अपवित्र शरीर में

पवित्रता समझना अविद्या है। स्त्री आदि भोग्य पदार्थों में शुद्धि का भान रखकर जो आसक्ति होती है वह भी अविद्या के कारण ही है। "हिंसादि अपुण्य कार्यों" में पुण्य जानना भी अज्ञान है। परिणाम—संस्कार दुःख के कारण योगी को सुख में दुःख का ही भान है। परन्तु अविवेकी लोग ऐसा न देखते हुये दुःख में भी सुखाभास मानते हैं।

अनात्म वस्तु में अविद्या के कारण आत्म-ख्याति होती है। प्रकृति से लेकर महाभूत पर्यन्त तथा इस शरीर में ही आत्मा बुद्धि जानना अविद्या का चौथा रूप है। इसी से ही मनुष्य को प्राकृतिक तथा वैकारिक बन्ध होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी राजसी तथा तामसी बुद्धि के वर्णन द्वारा अज्ञान का निरूपण किया गया है:—

यया धर्ममधर्मं च
कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति
बुद्धिः सः पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या
मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः
स पार्थ तामसी॥

अर्थात्—जिस बुद्धि द्वारा धर्म को अधर्म कार्य को अकार्य समझे वह बुद्धि राजसी है। तथा जो तमावृत होने के कारण अधर्म को धर्म जाने तथा सभी वस्तुओं को अन्यथा ग्रहण करे वह तामसी बुद्धि कहलाती है।

अविद्या ही अन्य चार अस्मितादि क्लेशों की जननी है।

'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनु-विच्छिन्नोदाराणाम्।'

ये पाँचों क्लेश चित्त में संस्कार रूप से बने रहते हैं। यह चार रूपों में अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। ये हैं प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। इनमें से प्रसुप्त क्लेश वे होते हैं जो बीजभाव में पड़े हुये अपने कार्य उत्पादन की सामर्थ्य से युक्त होते हैं। बीजवत् समय आने पर इस प्रकार के संस्कार अपना फल देते हैं। यह संस्कारों की प्रसुप्ता-वस्था है चित्त भूमि में मानो सोये पड़े रहते हैं जब तक उनके भोग का काल नहीं आता। प्रसुप्त हुये इन क्लेशों का विवेक ज्ञान के द्वारा दग्धीकरण किया जाता है जैसे कि कहा गया है—

बीजान्यग्न्युपदग्धानि
न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञान दग्धैस्तथा-क्लेशै-
र्नात्मा संपद्यते पुनः॥

अर्थात्—जिस प्रकार से बीज को अग्नि में उपदग्ध किये जाने पर पुनः उगने में समर्थ नहीं होते हैं उसी प्रकार से ज्ञानाग्नि से दग्ध होने पर क्लेश पुनः जननमरणादि रूप फल को देने में समर्थ नहीं होते हैं। गीता में भी 'ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधः'

ऐसा ज्ञानाग्नि का फल बतलाया गया है। तनु क्लेश वे होते हैं जो तीव्र संवेग से किये गये तप, समाधि, ईश्वर प्रणिधान तथा सिद्ध पुरुषों की सेवा से क्षीण हो जाते हैं। इस प्रकार से वे विवेक ज्ञान के विरोधी नहीं बन पाते हैं। विच्छिन्न क्लेश वे होते हैं जो बीच-बीच में टूट कर फिर जुड़ते भी रहते हैं। राग के समय द्वेष अपने विच्छिन्न अवस्था में होता है। समय आने पर पुनः द्वेष उपस्थित हो जाता है। उदार क्लेश वे कहलाते हैं, जो अपने अनुकूल वृत्ति को पाकर अपने पूरे स्वरूप में प्रकट हो जाते हैं।

जीव जब तक कैवल्यावस्था को प्राप्त नहीं करता तब तक वह क्लेश-कर्म-विपाक तथा कर्माशय से संस्पृष्ट ही रहता है। अविद्यादि पाँच क्लेश ही अनादि काल से जीव के साथ जुड़े हुये हैं। विवेक ख्याति द्वारा ही अविद्यादि क्लेशों का नाश होता है। पुरुष और बुद्धि के संयोग में अविद्या ही कारण है। इस संयोग को ही चिज्जड़ग्रन्थि, हृदय ग्रन्थि, अविद्या-ग्रन्थि इत्यादि नामों से जाना जाता है। इसे कारण शरीर भी कहते हैं। अविद्यादि के रहते हुये ही कर्माशय बनते हैं। 'क्लेश मूलः कर्माशय दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः' यह कर्मफल दृष्ट जन्म वेदनीय अर्थात् इस जन्म में ही भोगे जाने वाले तथा अदृष्ट जन्मान्तर में भोगे जाने वाले भेद से दो प्रकार के होते हैं।

तीव्र लगन तथा श्रद्धा से किया गया तप समाधि तथा महापुरुषों की अटूट सेवा का फल इस जन्म में ही मिल जाता है। इसी प्रकार से दुःखी जनों को बार-बार पीड़ा देने से तथा महापुरुषों तथा तपस्वियों का बार-बार अपकार करने से तथा विश्वास में आये लोगों से विश्वासघात करने से पाप का फल इसी जन्म में ही मिल जाता है। अविद्या के नाश हो जाने पर ही कर्माशय दग्ध-बीज रूप को प्राप्त होता है। उस समय 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' की उक्ति चरितार्थ होती है।

क्लेशों के सक्षम रहते हुये ही उनके फल के रूप में मनुष्यादि जाति, शरीर का जीवन-काल तथा सुख-दुःखादि भोग शरीर को प्राप्त होता रहता है। विवेक ज्ञान तथा पुरुष ज्ञान के अतिरिक्त ज्ञान भी अज्ञान ही है। इसीलिए वेदों में 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतमश्नुते' ऐसा कहा गया है। अर्थात् कर्मयोग के द्वारा मृत्यु को पार करके आत्म ज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। जितने भी आसुरी सम्पत्ति युक्त कर्म तथा तमोगुण जन्य कार्य होते हैं वह सब अविद्या के रहते ही फलते-फूलते रहते हैं। अविद्या के नाश हो जाने पर 'तदभावे तदाभावः' इस न्याय से आसुरी प्रकृति का पूर्णतया नाश हो जाता है। काम क्रोधादि विकार भी पूर्णरूपेण नष्ट हो जाया करते हैं। भगवान्

पूर्व प्रकाशित से आगे—

मानसिक तनाव से मुक्ति

❀ श्री शिवानन्द

यथासाध्य प्रयत्न करने पर भी किसी क्षेत्र में परिस्थिति न सुधरे अथवा प्राकृतिक आघात, दुर्घटना आदि के कारण कोई वास्तविक विवशता हो तो उसे सहज स्वीकार कर लेना चाहिये और उससे लज्जित अथवा दुःखी होना अव्यावहारिक है। हमें समझ लेना चाहिये कि जिन्दगी की बेल के सभी अंगूर मीठे नहीं हैं, कुछ मीठे हैं तो कुछ खट्टे भी हैं।

अपने आप को गाली देना, अपने भाग्य को कोसना तुरन्त छोड़ दें यदि अपने जीवन में सुख की ओर बढ़ने का संकल्प किया है। प्रत्येक स्थिति में प्रसन्न रहना मानो दुर्भाग्य को भी चुनौती देना है। वह इन्सान क्या जो ठोकरें नसीब की न सह सके। परीक्षा के समय भाग खड़े होना अथवा रोने लगना कायरता है। लोग जिसे सौभाग्य कहते हैं वास्तव में वह परिश्रम का फल होता है, अवसर का सदुपयोग होता है।

यदि कोई वस्तु टूट जाय अथवा खो जाय अथवा कोई क्षति हो जाय, उस पर क्लेश करना भी शुभ वृत्ति को लात मारना है। यदि बच्चे या नौकर से कुछ टूट गया तो बस घर में उस पर आपत्ति आ गई और

(पिछले पृष्ठ का शेष)

ने गीता में इस बात को स्पष्ट रूप से कह दिया है:—

विषया विनिवर्तन्ते
निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य
परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

अर्थात्—आत्म-दर्शन हो जाने पर राग इत्यादि क्लेशों का समूलोन्मूलन हो जाया करता है यद्यपि निराहारी के भी विषय थोड़े काल के लिए निवृत्त हो जाते हैं परन्तु बीज रूप में स्थित रहते होते हैं। आत्म-दर्शन वाले योगी के चित्त में इन वासनाओं का बीज भी नहीं रहता है। वह आत्मरती, आप्तकामी, आत्मरामी होता है। 'आत्मन्येवात्मानं पश्यति' वाली गति परिलक्षित होती है। विवेक ख्याति प्राप्त हो जाने के बाद ऋतम्भरा प्रज्ञा उदित होती है जिससे फलस्वरूप योगी को सम्पूर्ण प्रकृति पर अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व रूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

इसलिए योग-दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अविद्या नाश तथा कैवल्य लाभ प्रदान करना है।

कोहराम मच गया। यह त्याज्य है। अपने से छोटे, अपने अधीनस्थ एवं आश्रितजन के साथ बड़ा होने के कारण कठोर व्यवहार करना सबको आपका विरोधी बना देगा। जहाँ संकेत मात्र से अथवा मुस्कान मात्र से आज्ञा पालन हो रहा हो, वहाँ मुँह बनाकर तथा कुढ़ कर आज्ञा देना ना-समझी है। चतुर सवार घोड़े को मामूली लगाम हिलाने से मुड़ने, चलने और रुकने का आदेश दे देता है तथा मूर्ख सवार चाबुक मार-मार कर उसे चाबुक की आदत डाल देता है। आपके अधीनस्थजन, (घर में या दफ्तर में) आपके छोटे भाई-बहन, बच्चे और परिचारक आप से प्रेम करना चाहते हैं, आपका कृपा पात्र बनना चाहते हैं और सम्बन्ध को प्रगाढ़ करना चाहते हैं किन्तु आप उन्हें दुर्नीति एवं दुर्व्यवहार से अपना विरोधी बना देते हैं। छोटा समझकर उपेक्षा करना भूल है। एक छोटा सा तिनका आँख में घुसकर परेशान कर देता है। इसलिये मुस्कराकर बोलने का, व्यवहार सीखें। प्रेम पूर्वक मुस्कराइये और हृदय जीतिये।

यथा सम्भव किसी की बुराई की चर्चा न करो, न बुराई देखो, न बुराई सुनो किसी की बुराई में रुचि लेने से हमारे मन पर बुरे संस्कार पड़ जाते हैं, हमारे भीतर भी बुराई आ जाती है उंचाई में अपराध वृत्ति वाले (क्रिमिनल) दुष्टों का सहारा लेकर विजय पाने पर भी आपको एक दिन पराजय का मुँह देखना पड़ेगा क्योंकि वे अन्त में आपको भी शिकार बनाये बिना न रह सकेंगे।

यदि आप ईमानदार हैं तो दूसरे से प्रशंसा की आशा कदापि न करें। क्योंकि इस संसार में बेईमानी अथवा ईर्ष्यालु लोग प्रायः बिना संकोच ईमानदार आदमी पर झूठे आरोप लगाया करते हैं। दूसरे के मुख पर कालिमा पोतने से पूर्व ईर्ष्यालु के हाथ काले हो जाते हैं। दूसरों को फँसाने के लिये बिछाया हुआ जाल अवश्य एक दिन जाल बिछाने वाले को ही फँसा देता है। दूसरे के लिये गड्ढा खोदने वाला स्वयं ही उसमें गिर पड़ता है। यह प्रकृति का नियम है। स्वार्थी एवं ईर्ष्यालुजन ईमानदार व्यक्ति को बेईमान कहने और सिद्ध करने में जरा भी संताप अथवा संकोच का अनुभव नहीं करते। सर्प और वृश्चिक तो दबने पर ही काटते हैं, चोट खाने पर ही चोट देते हैं किन्तु ईर्ष्यालुजन अकारण ही आघात कर देते हैं। अकारण द्वेषीजन की बात पर कोप करना भूल है। महात्मा बुद्ध कहते हैं कि लोहे में उत्पन्न और बसा हुआ जंग उसी को ही खा जाता है, वैसे ही मनुष्य के अन्दर उत्पन्न और पला ईर्ष्या-द्वेष उसी को ही खा जाता है। चालाक लोग ईमानदार के विरुद्ध चुपचाप षड्यन्त्र भी रच देते हैं क्योंकि ईमानदार उनके रास्ते में एक बाधा होते हैं। ईमानदार

होते हुये भी आप कहीं फँसकर मुसीबत उठा सकते हैं यदि सावधान और सतर्क न रहेंगे।

प्रायः सच्चे और ईमानदार व्यक्ति के लिये उसका चरित्र ही उसके लिये अनेक समस्यायें उत्पन्न कर देता है और उसे पग-पग पर चुपचाप विषपान करना पड़ता है, अपमान सहना पड़ता है, दुःख उठाना पड़ता है, संघर्ष करना पड़ता है, प्रलोभन जीतने पर भी उसे प्रलोभन में फँसने के लिये विवश किया जाता है। चरित्र की राह पर चलने से धन और सत्ता उससे दूर होने लगते हैं। सीधा चलने और सीधा बोलने वाला दूसरों को भी सीधा सच्चा समझकर उन पर सहज विश्वास कर लेता है। अतः एवं सच्चे आदमी को अधिक सावधान रहना चाहिये। किन्तु उसे अपनी सच्चाई और ईमानदारी में दृढ़ आस्था रखनी चाहिये। उसकी सच्चाई और ईमानदारी न केवल उसके सुख एवं सम्मान का स्रोत बनती है, उसकी रक्षा भी करती है। मनुष्य जब छलप्रपञ्च का सहारा लेता है, बुद्धि निर्बल हो जाती है, आत्म-विश्वास लुप्त हो जाता है तथा मनुष्य दूसरों के हाथ का खिलौना बनकर फँसता ही चला जाता है। सत्य का सहारा लेकर ही मनुष्य का आत्म-विश्वास दृढ़ रह सकता है तथा मनुष्य संकट पार कर सकता है।

समाज के व्यक्तिगत शोषण के अतिरिक्त कुछ सामाजिक अत्याचार भी होते हैं जाति-वाद, बिरादरीवादी, प्रान्तवाद इत्यादि के संकीर्ण दृष्टिकोण से, योग्य व्यक्ति के अधिकार छीन लिये जाते हैं और अयोग्य अथवा निम्नस्तरीय व्यक्ति को योग्य व्यक्ति के सिर पर बैठा दिया जाता है। इसके दो परिणाम सम्भव हैं—

(१)—व्यक्ति सिकुड़ कर समाज के एक कोने में छिपकर पड़े हुये आत्म-ग्लानि की भट्ठी में जलता रहे अथवा आत्म-हत्या आदि को अपनाकर अपमानजनक स्थिति का अन्त कर दे।

(२)—अथवा वह हिंसा का सहारा लेकर अपराधी के रूप में सामाजिक अपराध करना प्रारम्भ कर दे।

किन्तु विवेकशील व्यक्ति ऐसे समय में भी सुदृढ़ रहकर अपने मन में अथवा व्यव-हार में ऐसी प्रतिक्रिया नहीं होने देता है। वह संकीर्णता को कदापि नहीं अपनाता है। कीचड़ से कीचड़ नहीं धोयी जाती है। शुद्ध जल ही कीचड़ को धो सकते हैं।

अन्तरात्मा में शूल की भाँति चुभने वाले गलत काम किसी के भी दबाव में आकर कदापि न करें क्योंकि फँसने पर कोई व्यक्ति सहायता न कर सकेगा। कोई आपको अपमान और ग्लानि से न बचा सकेगा। दबाव में आकर पाप करना भयङ्कर भूल है। सत्य की राह पर रहने से शान्ति और सत्कार अवश्य मिलेंगे। सोफोक्लीज कहता है "कोई भी साक्षी इतना निकट और कोई भी अभियोक्ता इतना शक्तिशाली नहीं हो सकता जितना अपना ही अन्तःकरण" अपना अन्तःकरण परम निकट है और विकट भी। अन्तःकरण के दर्पण से कुछ भी छिपाना असम्भव है। अपना अन्तःकरण सबसे बड़ी अदालत है। ❁❁

विचारों की सृष्टि

श्री विष्णुप्रसाद 'व्यास'

यह संसार द्वन्द्वमय है। प्रत्येक वस्तु अथवा पदार्थ के यहाँ दो पक्ष हैं। यथा—दिन है तो रात है, सुख है तो दुःख और जन्म है तो मरण भी है। यह द्वितीय द्वन्द्व परस्पर विरोधी होते हैं। इसी प्रकार भक्ति और माया का भी एक द्वन्द्व है जो एक दूसरे के विरोधी पक्ष हैं। भक्तिपूर्ण विचारों से जहाँ मन को सुख, आनन्द और शान्ति प्राप्त होती है, वहाँ मायामय विचारों से उसे दुःख और पीड़ा की परेशानी होती है। अभिप्राय यह है कि सुख-दुःख का आधार मनुष्य के अपने कर्म और विचार ही हुआ करते हैं। यदि मनुष्य सही ढङ्ग से अपने विचार और कर्मों का आधार भक्ति को बना ले तो सुख और शान्ति की प्राप्ति उसे निश्चित रूप से होती रहेगी। सुख और शान्ति ही मनुष्य को अभीष्ट होते हैं और उसका सारा प्रयास इसी की प्राप्ति के लिये हुआ करता है, पर भक्ति को या भक्ति-मार्ग को दृढ़ता से पकड़ कर आगे नहीं बढ़ना चाहता। यदि वह ऐसा कर सके तो उसे शाश्वत शान्ति और पारमार्थिक सुख दुर्लभ नहीं रहेगा।

योग वाशिष्ठ में भगवान् श्री राम को उपदेश देते हुए गुरुवर श्री वशिष्ठ जी कह रहे हैं कि सत्पुरुषों ने दो प्रकार की सृष्टि बताई है—एक विधाता द्वारा निर्मित और दूसरी मनुष्य के विचारों द्वारा निर्मित। विधाता द्वारा रचित सृष्टि तो किसी को सुख-दुःख नहीं देती, पर विचारों के आधार पर बनाई हुई कल्पना-सृष्टि में फँसकर ही मनुष्य सुख-दुःख का अनुभव किया करता है। उदाहरणार्थ—

एक व्यक्ति अँधेरी रात में यात्रा कर रहा था। मार्ग में एक पेड़ का ठूँठ (स्थाणु) खड़ा था। वास्तव में वह ठूँठ ही था जो निष्प्राण और निर्जीव था, मनुष्य का कुछ बिगाड़ नहीं सकता था, किन्तु यात्री मनुष्य ने अपनी कल्पना के आधार पर उसे भूत समझ लिया और भूत समझकर वह उससे भयभीत होने लगा। वह काँपने लगा और उसकी यात्रा में उसके चरण आगे बढ़ने से कतराने लगे। यह हुआ अपने विचारों की सृष्टि का परिणाम। यदि उसे यह विश्वास होता कि यह भूत नहीं किन्तु निर्जीव और निष्प्राण उजड़े हुए वृक्ष का एक तना मात्र है, तो ऐसी दशा में न उसे किसी प्रकार का भय होता और न भयभीत होने के कारण उसकी गति के चरण ही रुक जाते।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य अपने मन को निर्भयता के गुण से परिपूर्ण रखे ताकि भय और भ्रम का भूत उसमें प्रविष्ट ही न हो सके।

मन को निर्बल बनाने का कार्य केवल बातें बनाने से नहीं होगा, किन्तु इसके लिये अपने सम्पूर्ण चरित्र को कर्तव्य परायण और पावन बनाने की कठोरतम् साधना करनी पड़ेगी। एक उदार तथा निर्मल मना महात्मा की कथा इस दिशा में हमारा समुचित मार्ग-दर्शन कर सकती है :

अरण्य में एक महात्मा अपना आश्रम बनाकर रहते थे। आश्रम पर सायं-प्रातः सत्संग चला ही करता था। एक दिन जब सत्संग चल रहा था तब उस देश का राजा भी जो धार्मिक विचारों का था—सत्संग में उपस्थित था। महात्माजी का आश्रम आम के फलदार वृक्षों से शोभायमान हो रहा था। पेड़ों पर आम के फल भी लगे हुये थे। आम के फलों को नीचे गिराने के लिये दूर से किसी एक बालक ने एक पत्थर का टुकड़ा फेंका जो आम में न लगकर महात्मा जी के सिर में जा लगा, जिससे उन्हें गहरी चोट आई और सिर से रक्त बहने लगा। राजा ने अपने साथ के सैनिकों को पत्थर फेंकने वाले लड़के को अपने सामने प्रस्तुत करने का आदेश दिया। सैनिक दौड़े गये और उस बालक को पकड़ लाये। राजा ने कहा—"तुमने महात्मा जी को प्राण-घातक चोट पहुँचाई है इसलिये तुम्हें इसके लिये कठोर दण्ड दिया जायेगा।" लड़के ने कहा—"महाराज पत्थर मैंने आम के फल गिराने के लिये आम के पेड़ को मारा था, महात्मा जी को नहीं, वह तो उनके सिर में अनायास ही जाकर लग गया है, मेरा अपना कोई अपराध नहीं है। राजा ने कहा—"इससे ज्यादा तुम्हारा क्या अपराध होगा कि तुम्हारी चोट से महात्मा जी को प्राणघातक चोट आई है। यहाँ हम सब इसको प्रत्यक्ष देख भी रहे हैं।" राजा ने इसी बीच अपनी नजर महात्मा जी की ओर घुमाई और पूछा, महात्मा जी! कहिये इस बालक को क्या दण्ड दिया जाय?

महात्मा लोगों की अपनी दुनिया ही अनोखी होती है, जिसे पारमार्थिक दृष्टि रखने वाले ही जान सकते हैं। महात्मा जी ने शान्त भाव से मुस्कराते हुए कहा—"राजन् इस बालक द्वारा फेंका गया पत्थर अगर पेड़ पर लगता तो वह पेड़ इसे क्या देता?" राजा ने विनम्रता से कहा—"महाराज! वह तो इसे अपनी डाल पर लगे मीठे-मीठे आम के फल ही देता।" महात्मा बोले—"राजन्! जब जड़ वृक्ष भी पत्थर खाकर मधुर फल देता है तो मैं चेतन मनुष्य होते हुए भी इस बालक को दण्ड दिलवाऊँ यह मेरी महान भूल होगी। राजन्! यदि मेरी ही इच्छा पूछते हो तो मैं स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि आप इस बालक की झोली मीठे आमों से भर दीजिये। यदि मनुष्य होकर भी मैं इस बालक को क्षमा न करूँ तो

पेड़ से भी निम्न श्रेणी का माना जाऊँगा।" राजा ने महात्मा जी की इच्छा जान कर बालक को तदनुसार मुक्त कर दिया और उसे आम के मीठे फल देकर कृतार्थ कर दिया।

ऐसी होती है साधु पुरुषों के विचारों की सृष्टि। योगिराज भर्तृहरि जी ने ऐसे साधु-पुरुषों के बारे में ही अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है—

मनसि वचसि काये
पुण्य पीयूष पूर्णा-
स्त्रिभुवन मुपकार:
श्रेणिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुण परमाणू-
न्पर्वतीकृत्य नित्यं-
निज हृदिविकसन्तः सन्ति
सन्तः कियन्तः ॥

अर्थात्—जिनके तन, मन और वाणी में पुण्य रूपी अमृत भरा है, जो अपने उपकारों से तीनों लोकों को तृप्त करते हैं तथा जो दूसरे के परमाणु समान लघुतम गुणों को पर्वत के समान बढ़ाकर अपने हृदय में प्रसन्न होते हैं, ऐसे सत्पुरुष जगत् में विरले ही होते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से आपको विचारों की सृष्टि का कुछ परिचय मिल जाता है। राजा अपने विचार और निर्णय के आधार पर ही जिस बालक को प्राण-घातक चोट पहुंचाने के आधार पर दण्डित करने का निश्चय कर चुका था, उसी को अपने विचारों के अनुसार महात्मा जी ने उसे मुक्त कराकर पुरस्कृत करा दिया। योगी श्री दत्तात्रेय जी ने अपने विचारों के आधार पर ही अपने चौबीस गुरु धारण किये थे। पेड़ को भी उन्होंने अपना गुरु बनाया था, इसलिये कि उन्होंने उस वृक्ष से यह शिक्षा ग्रहण की थी कि जैसे वायु-धूप, वर्षा, सर्दी-गर्मी आदि ऋतुओं का प्रकोप सहन करके भी यह दूसरों को फल और छाया प्रदान करता है, वही गुण ग्रहण करने का मैंने इसे देखकर संकल्प लिया है। अतः यह वृक्ष भी मेरा दीक्षा गुरु है।

फलदार वृक्ष फलों के भार से प्रायः नीचे झुक जाया करते हैं। इसी प्रकार भक्तिमान् पुरुष इन झुके हुए वृक्षों को देखकर विद्या, ज्ञान और साधन सम्पन्न होने पर भी अधिक नम्र और विनयशील हो जाया करते हैं। ये गुण भी श्री दत्तात्रेय ने वृक्षों को अपना गुरु बनाकर उनसे ग्रहण किया था।

इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य, प्रभु की इस सुनियोजित और सुरम्य सृष्टि को देखकर अपनी विचारों की सृष्टि को भी सुन्दर, सुरम्य और सुखदायक बना सकता है बशर्ते कि वह श्रद्धा और विश्वास के साथ इसका अध्ययन और निरीक्षण करने का प्रयत्न करता रहे।

योग-दर्शन के अनुसार मनुष्य अपनी वैचारिक सृष्टि को सुन्दर और सुखदायक बनाने के लिये क्रिया-योग को अपना आधार बना सकता है, जिसमें तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान उसकी साधना के अपने मुख्य आधार होंगे।

गुरु-अभ्यर्चना

श्री दिनेशनारायण 'त्रिपाठी'

गुरुदेव आपकी लीला का,
है हमको कुछ अनुमान नहीं।
तव महिमा अमित अगाध प्रभो!
हमको इसका कुछ भान नहीं॥

हम अज्ञ कुमति भौतिक प्राणी,
पावना करें प्रभुवर कैसे।
कर देना इतनी देव कृपा,
तम मिट जावे जैसे-तैसे॥

अष्टांग योग पथ पर बढ़ने का,
हम अभ्यास नहीं करते।
गुरु कृपा मात्र से सिद्धि मिले,
बस इतनी अभिलाषा रखते॥

निज देही कैसे पहचानें,
जब है अज्ञान हमें घेरे।
आशीष आपका पाने पर,
मिट जायेंगे हेरे—फेरे॥

प्रभु पूर्ण रहेंगे देकर भी,
अपने चरणों का रजः प्रसाद।
पर बुद्धि विमल अपनी होगी,
मिट जायेगा मन का विषाद॥

हैं शब्द सूझते नहीं मुझे,
फिर कैसे करूँ चरण—वन्दन।
प्रभु मेरी इच्छा पूर्ण करो,
प्रभु-पग-रज हो मेरा चन्दन॥

हे दीन-बन्धु! करुणा-सागर!
मन की चञ्चलता ह्रास करो।
अनुभूति-गम्य होकर निशि-दिन,
प्रभु ध्यान में मेरे वास करो॥

OGA—Regd. No. L. AG. 008 Sept. 1986